KĀLIDĀSA'S

MĀLAVIKĀGNIMITRA

Edited with A Critical Introduction, Complete Hindi Translation, Prose-Order, Hindi Synonyms, Useful Notes, etc., etc.

BY

Dr. KAILASH NATH BHATNAGAR, M.A., Ph. D
Professor of Sanskrit,
Sanatana Dharma College, Lahore.

Can be had of :—

MALHOTRA BROS.,
LAHORE.

Edition] 1944 [Price Rs. 3/8/-

KĀLIDĀSA'S

MĀLAVIKĀGNIMITRA

Edited with A Critical Introduction, Complete Hindi Translation, Prose-Order, Hindi Synonyms, Useful Notes, etc., etc.

BY

Dr. KAILASH NATH BHATNAGAR, M.A., Ph. D.

Professor of Sanskrit,

Sanatana Dharma College, Lahore.

Can be had of :—

MALHOTRA BROS.,

LAHORE.

New Revised Edition] 1944 [Price Rs. 3/8/-

Published by :

Dr. Kailash Nath Bhatnagar, M.A., Ph. D

Sanatana Dharma College,

Lahore.

AND

Printed by :

Mr. J. S. Paul,

Basant Printing Press,

Ganpat Road,

Lahore.

Preface to the New Revised Edition.

The present edition of Kālidāsa's Mālavikāgnimitra is specially meant for students preparing for the Intermediate examination but care has been taken to make it equally interesting and suitable for the general reader as well. In some of the existing editions I find that the Sanskrit 'shadow' of the Prakrit speeches is given along with the text, the original Prakrit being printed below in small type. This arrangement is baneful as it tempts the students to neglect the study of Prakrits, which constitute the essential nucleus of Sanskrit drama and so do not deserve to be relegated to a secondary place. There is another method, called the 'interlinear' method. *i.e.*, giving Prakrit and Sanskrit in alternate lines. But this method is interruptive and tedious in the reading of the text I have given Prakrit in the text, and its *Chhaya* in rectangular brackets (in different type) so as to keep it separate from the text.

For the convenience of the green reader, I have separated each word by a short hyphen when a long compound has occurred. This will facilitate the construing of the text.

In the Introduction I have tried to touch upon the various general questions raised about the date, birth-place, etc of Kālidāsa, and about his play Mālavikāgnimitra. Though the date of the dramatist is uncertain, yet I feel that any introduction to his works omitting this question is no introduction at all. I have boiled down the different theories about his date and tried to draw a conclusion.

In the Hindi rendering I have tried to be literal but idiomatic construction of the Modern Indian language has not been lost sight of.

In the Notes (Tippan) I have given only what is useful for the students. The expounds are given along with the names of the compounds expounded. Necessary deriva-

tions of words, allusions, etc. are explained therein. An attempt has been made to interpret the text more thoroughly. I have given all the annotation just below the text. This method has been much appreciated.

Appendices dealing with 'Allusions', 'Relation of Prakrit with Sanskrit; 'Dramaturgical Terms', 'Metre', 'Examination Papers of the Panjab University (1918-21, 1935-37 and 1942-44) and of the Delhi University (1931-33),' etc. An Index to the Subhāsitas occurring in the play is also appended.

In the end, it is my pleasant duty to thank my readers, who have been kept waiting so long. Scarcity of paper and press difficulties hindered the progress of the work a good deal. Special new types were ordered and such arrangements were bound to delay the book. But I am confident that this hardship of theirs will be well re-paid.

Sanatana Dharma College,

LAHORE.

Kailash Nath Bhatnagar

भूमिका

१ कालिदास

(क) जीवन-चरित

सामग्री का अभाव

कालिदास निःसन्देह बहुत उच्चकोटि का कवि तथा नाटककार है। सर विलियम जोन्ज आदि पाश्चात्य विद्वानों ने उसे "भारत का शेक्सपियर" कहा है। किन्तु यह बात ध्यान में रहे कि शेक्सपियर केवल नाटककार ही है और कालिदास प्राचीन कवियों तथा नाटककारों दोनों में सर्वोच्च पद को प्राप्त है। अत्यन्त खेद का विषय है कि हम कालिदास के जीवन-चरित के सम्बन्ध में ठीक-ठीक प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं जानते। वह 'अपने ग्रन्थों में अपने सम्बन्ध में सर्वथा मौन है।' अनेक टीकाकारों में से एक भी तो नहीं जो इस पहेली पर प्रकाश डालता हो। कई कथानक हमें प्राप्त हुए हैं। किन्तु वे इतने विस्मयपूर्ण हैं कि वे ऐतिहासिक तथ्यता के सर्वथा विरुद्ध हैं। उसके ग्रन्थ भी इस विषय पर कुछ विशेष नहीं कहते। उसे अहंभाव छू कर नहीं गया। वह अतीव विनयी है। उसने अपने सम्बन्ध में बहुत ही कम बताया है। उसने मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना में लिखा है :—

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदास-ग्रथित-वस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तदारभ्यतां संगीतकम्।

पारिपार्श्विकः—मा तावत्। प्रथित-यशसां भास-सौमिल्लक-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमान-कवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः?

सूत्रधारः—अये ! विवेक-विश्रान्तमभिहितम् । पश्य,

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः ॥

भवभूति की भाँति उसने अपने माता-पिता इत्यादि के विषय में बिल्कुल चुप्पी साधी रखी है। यह ऊपर उद्धृत की गई पंक्तियों से प्रकट होगा कि मालविकाग्निमित्र नाटककार की प्रथम रचना है। इसी प्रकार उसके विक्रमोर्वशीय तथा शकुन्तला में भी उसने केवल अपने नाम का उल्लेख किया है, बस, और कुछ नहीं। किन्तु वह पहले का संकोच जाता रहा है। प्रतीत होता है कि उसने अपना नाम ऊँचा कर लिया था:—

सूत्रधारः—मारिष ! बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टः प्रयोग-बन्धः। सोऽहमद्य विक्रमोर्वशीयं नाम नाटकमपूर्वं प्रयोक्ष्ये।...

शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य ॥ (विक्रमो॰ १. २)

सूत्रधारः—अद्य खलु कालिदास-ग्रथित-वस्तुनाभिज्ञान-शाकुन्तल-नामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। (शकुन्तला)

एक ही बार उसने अपने लिए उत्तम पुरुष का प्रयोग किया है (रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् । रघु॰ १. १०) किन्तु तुरन्त ही वह अपना मुँह बन्द कर लेता है, और फिर कुछ नहीं कहता। नाट्य-शास्त्र का नियम है कि नाटककार अपना नाम बताये, इसलिए कालिदास ने अपना नाम तो बता दिया है, और कुछ नहीं। अन्यथा, त्रिवन्द्रम् नाटकों की तरह उसके नाटकों के रचयिता के विषय में वाद-विवाद उठ खड़ा होता।

जन्म-स्थान

एक अति प्राचीन जन-श्रुति बताती है कि कालिदास उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य, जिसने ५७ विक्रम पूर्व में अपना संवत् चलाया था, का राज-कवि था। महाकाल, सिप्रा, तथा उज्जयिनी के रमणीय दृश्यों का विशद और उत्तेजनात्मक विवरण पर्याप्त प्रमाण है कि कवि उस स्थान का निवासी था। यह बात भी निश्चित नहीं। कुछ विद्वान् उसे काश्मीर का निवासी बताते हैं, दूसरे उसे बंगाल का। यह भी सुझाया जाता है कि वह कदाचित् काश्मीर में उत्पन्न हुआ हो और पीछे उज्जयिनी में जा बसा हो।

कालिदास ब्राह्मण-कुल-भूषण और शैव था। वह अपना प्रत्येक नाटक शिव-स्तुति द्वारा प्रारम्भ करता है।* वैष्णव ग्रन्थ रघुवंश† में कालिदास का भी उसने ऐसा ही किया है किन्तु वह कट्टर नहीं था। उसने मत त्रिमूर्ति के शेष दो देवता ब्रह्मा और विष्णु के प्रति भी उत्तेजनात्मक भाव दिखाया है। कुमारसम्भव में शिव स्वयं नायक हैं किन्तु वहां भी (२. ४-१५) उसने ब्रह्मा की बड़ी प्रशंसा की है, जब कि ऋषि आदि उनके पास तारकासुर से रक्षा के उपाय के लिए पहुँचते हैं। रघुवंश में (१०.१६-३४) उसने शिव समेत सब देवताओं को विष्णु का रूप बताया है। तथापि उसका झुकाव शिव के प्रति था। मेघदूत में (३०, ३४,३६) उसने शिव और उसके मन्दिर महाकाल का विशाल वर्णन किया है। शकुन्तला के भरत-वाक्य द्वारा उसके मत का निर्णय हो जाता प्रतीत होता है। ऊपर के ग्रन्थों में ब्रह्मा और विष्णु की उद्धृत की गई प्रशंसा संभव है कि प्रस्तुत विषय की आवश्यकता के कारण हो, किन्तु तब भी ऐसी प्रशंसात्मक स्तुति कट्टर शैव की लेखनी से नहीं लिखी जा सकती। हम, इसलिए, न्यायपूर्वक परिणाम निकाल सकते हैं कि धार्मिक विषयों में कालिदास, जैसा कि सर विलियम जोन्ज ने कहा है, ' स्वस्थ-हृदय" था, और बलपूर्वक कह सकते हैं कि वह "रोगी आत्मा" नहीं था।

---

* मालविका० देखो, मूल पाठ

विक्रमो० वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥

शकुन्तला या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

† रघु० वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

महान् यात्री

कालिदास ने, प्रतीत होता है कि, बहुत भ्रमण किया था। एक ओर तो वह काश्मीर में अवश्य ही रहा होगा, और दूसरी ओर दक्षिण के दूरवर्ती कोने में। रघु-दिग्विजय के वर्णन में (४.३६-८५) इतना तथ्यपूर्ण वर्णन है कि प्रतीत होता है कि अवश्यमेव उसने उन-उन स्थानों को देखा होगा। हिमालय का भौगोलिक तथा ठीक-ठीक वर्णन (कुमार० १.१-१६) दिखाता है कि उसने उन रमणीय स्थानों को भी अपनी आँखों देखा होगा। कंकण प्रदेश में बीज बोने से पहले ज़मीन को जलाने की क्रिया का वर्णन बहुत ध्यान देने योग्य है। रघुवंश के १३वें सर्ग में जब राम पुष्पक विमान द्वारा लौटते हैं, तब लंका से लेकर अयोध्या तक के समस्त प्रदेश का वर्णन किया गया है।

चरित्र

यद्यपि कालिदास के ग्रन्थ शृंगार-सम्बन्धी विषयों का वर्णन करते हैं तथापि वह स्वयं चरित्रवान् पुरुष रहा होगा।* उसने जीवन सुख का भोग मर्यादा के भीतर रह कर किया होगा। वह गन्धर्व-विवाह के विरुद्ध था। उसने गौतमी द्वारा राजा दुष्यन्त को डांट बताई है। उसने शार्ङ्गरव द्वारा शकुन्तला को भी झाड़ दी है।† जब दुष्यन्त शकुन्तला को स्वीकार नहीं करता, तब वह शार्ङ्गरव द्वारा कहलाता है :—

इत्थमात्मकृतं चापलं दहति। (शकुन्तला ५)

कालिदास के ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा निःसन्देह प्रतीत होता है कि वह

---

* अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्। (शकुन्तला ५)
असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा। (शकुन्तला १. २०)
का त्वं शुभे! कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥
(रघु० १६. ८)

† नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न त्वयापि पृष्टो बन्धुः।
एकैकस्य न चरिते भणतु किमेक एकस्मिन्॥ (शकुन्तला ५. १६)
अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥ (शकुन्तला ३. २४)

उच्चकोटि का विद्वान था। उसे विद्या के विविध अंगों में योग्यता थी। प्रतीत होता है कि उसे वेद, उपनिषद् भगवद्गीता, सांख्य, योग और वेदान्त तथा पुराणों से पर्याप्त परिचय था। व्याकरण पर उसे पूरी प्रभुता प्राप्त थी। अलंकार शास्त्र तथा नाट्य शास्त्र का उसे पूरा ज्ञान था। चिकित्सा, ज्योतिष (गणित और फलित) संगीत तथा धनुर्वेद में उसकी योग्यता कम न थी। राजनीति तथा काम-शास्त्र में उसका अभ्यास महान् था। धर्मशास्त्र ग्रन्थों से उसका परिचय था। 'किन्तु केवल हमें लिखित ग्रन्थों द्वारा ही प्रतीत नहीं होता कि वह बड़ा पढ़ने वाला था। विरले ही किसी पुरुष ने इस पृथ्वी तल पर पैर रखा है, जिसने प्राणियों के व्यवहार का इतना ठीक अध्ययन किया है" प्रोफ़ेसर राइडर कहते हैं "जितना उसने, चाहे उसकी सचाई कवि की थी, न कि वैज्ञानिक की।"

विद्वत्ता

कालिदास में स्त्री-वर्ग के प्रति आकर्षण था, और वह भी बदले में उसे आकर्षित करता था। वह शिशु-संसार का प्रेमी था और वह भी बदले में उससे प्रेम करता था। उसके ग्रन्थों में स्वस्थ आशा-वाद की सुगन्ध पाई जाती है, जिस पर पदार्थों की क्षण-भङ्गुरता सम्बन्धी विषाद-पूर्ण विचारों का कोई प्रभाव नहीं।

विश्व-प्रेम

(ख) कालिदास के ग्रन्थ और उनकी प्रशंसा

कालिदास के यश से खिंचकर कुछ दूसरे घटिया दर्जे के लेखकों ने भी अपने ग्रन्थों का उसे रचयिता बना डाला। इसी लिए कालिदास* को कई एक ग्रन्थों का निर्माता कहा जाता है। उसके खरे ग्रन्थ तो सात प्रतीत होते हैं:—(१) मालविकाग्निमित्र, (२) ऋतुसंहार, (३) मेघदूत, (४) कुमारसम्भव, (५) विक्रमोर्वशी, (६) अभिज्ञान-शाकुन्तल, तथा (७) रघुवंश।

ग्रन्थ

---

* यह भ्रम कदाचित् इस कारण हुआ हो कि संस्कृत के इतिहास में एक से अधिक कालिदास हुए हैं:—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥ (राजशेखर)

कालिदास भारत के कवि तथा नाटककारों में सर्व-श्रेष्ठ है। उसे भारत के तथा यूरोप के विद्वानों द्वारा बढ़िया से बढ़िया प्रशंसा प्राप्त हुई है। बाण जैसे उच्चकोटि के कवि ने भी उसके विषय में कहा है:—

कविता की प्रशंसा

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

एक जन-श्रुति इस प्रकार है:—

पुरा कवीनां गणना-प्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका साऽर्थवती बभूव॥

जयदेव ने उसे 'कवि-कुल-गुरु" कहा है।

अलंकार-शास्त्र के लेखक आनन्दवर्धन ने उसे 'कवि सार्व-भौम" की उपाधि दी है। जर्मनी के महाकवि गेटे ने शकुन्तला पढ़कर उसे भारी प्रशंसा प्रदान की, जिसका भाव यह है:—

"क्या तू नव-वर्ष के पुष्प और क्षीयमाण वर्ष के फल देखने की इच्छा करता है, जिससे आत्मा, मन्त्र-मुग्ध, प्रमोद-रत, आह्लादित और आनन्द-विभोर हो जाती है? क्या तू स्वर्लोक तथा भूलोक के एक मधुर नाम में मिल जाना चाहेगा? अरे, (तब) मैं तेरे सामने शकुन्तला का नाम लेता हूँ और बस सब कुछ एक साथ ही कह डाला।"

लेसन ने उसे "भारतीय काव्य-गगन का सब से देदीप्यमान तारा कहा है।"

यह बिल्कुल ठीक है कि कालिदास की कल्पना श्रेष्ठ तथा तेजस्वी थी और उपमा क्षेत्र में सब से बढ़-चढ़ कर। भारतीय विद्वान् भी उसकी उपमाओं के विषय में कहते हैं:—"उपमा कालिदासस्य"। डा॰ कीथ ने लिखा है:—"वह अपने कार्य की परिपक्वता तथा परिमार्जन के कारण अद्वितीय है।"

"कालिदास के ग्रन्थों का दूसरा व्यापक भाव है बाहरी प्रकृति का प्रेम। निःसन्देह हिन्दू मात्र के लिए, जिसका अवतारवाद में प्रायः स्वाभाविक विश्वास है, मानना सहज है कि समस्त जीवन, पौधे और देवता में, वास्तव में एक-सा ही है, तब भी किसी ने हिन्दुओं में से भी अपना भाव इतने विश्वासजनक सौन्दर्य के साथ प्रकट नहीं किया है जैसा कि

प्रकृति-प्रेम

कालिदास ने। यह कहना बड़ा कठिन है कि वह नदियों और पर्वतों तथा पेड़ों को सजीव बना देता है; उसके लिए तो उनमें सचेत व्यक्तित्व इतना सच्चा और निःसन्देह है कि जितना कि पशु, पुरुष वा देवताओं में।" (दी एज आव कालिदास: अरविन्द घोष)

"कालिदास का प्रकृति-ज्ञान सहानुभूतिपूर्ण ही नहीं, वरन् यह सूक्ष्म रूप में सही भी है। उसमें अद्भुत समता थी जिसके कारण वह राज-प्रासाद और निर्जन स्थान में एक-सी अवस्था में रह पाता था। इस गुण में मैं नहीं जानता कि उसकी किस के साथ तुलना की जाय। शेक्सपियर भी तो, प्राकृतिक सौन्दर्य की ऐन्द्रजालिक दृष्टि रखते हुए, मूलतः मानव हृदय का कवि है। यह बात कालिदास पर कठिनता से घटती है, न ही यह कहा जा सकता है कि वह मूलतः प्राकृतिक सौन्दर्य का कवि है। दोनों विशेषताएँ उसमें, यही कहा जा सकता है कि रसायनिक रीति से मिल गई हैं। यह बात मेघदूत में सुन्दर रूप में मूर्तिमान् है। पूर्व-भाग बाह्य प्रकृति का वर्णन है, किन्तु मानवीय भावनाओं से गुथी हुई प्रकृति का; उत्तर-भाग मानव-हृदय का चित्र है किन्तु चित्र प्राकृतिक सौन्दर्य में मढ़ा है। इतनी निपुणता से काम किया गया है कि यह कोई नहीं कह सकता कि कौन-सा भाग श्रेष्ठ है।"

कालिदास प्रेम-प्रदर्शन में अद्वितीय है। उसकी कल्पना श्रेष्ठ तथा तेजस्वी है। वह अपने विशाल और उत्तम भावों को बड़ी सरलता तथा सहज भाव से, बिना लम्बे-लम्बे समास, और धोखेदार श्लेष और वाक्य-रचना के वर्णन कर देता है। उसकी शैली विशुद्ध और आडम्बर-रहित है। अलंकार-शास्त्र के ज्ञाताओं ने इसका नाम वैदर्भी शैली रखा है।

लेखन-शैली

उसकी भाषा में "न तो पुराणों की शिथिलता है, न ही उत्तर-काव्य ग्रन्थों की कृत्रिमता।" अलंकारों में से कालिदास को उपमा* से प्रेम है, और इस क्षेत्र में वह सब को पीछे फेंक देता है। उसने प्रायः उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास का भी

---

* उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

सफलता के साथ व्यवहार किया है। यद्यपि उसके ग्रन्थ में उपमाओं की भरमार है, तथापि उनसे कोई उकता नहीं जाता। हर उपमा विचित्र चमत्कार और आनन्द लिए हुए है। ध्वनि काव्यार्थ की अनुगामी है। उसकी कविता इस कथन का पूर्ण रूप से अनुमोदन करती है:—काव्यस्यात्मा ध्वनिः। इसकी शैली में माधुर्य और प्रसाद की प्रचुरता है। भाषा की सरलता और सौन्दर्य के कारण उसके ग्रन्थ लोकोक्तियों और मुहावरों के स्रोत बन गए हैं।

(ग) कालिदास का समय

कालिदास के समय का प्रश्न बहुत विवाद-ग्रस्त है। कुछ भी निश्चित नहीं कि उसका व्यक्तिगत जीवन कैसा था, जन्म-स्थान कहां था, और कौन-सा समय था जब वह जन्मा। भिन्न-भिन्न विचारों वाले विद्वानों ने विविध प्रस्ताव उपस्थित किये हैं:—

बाण ने, जो कि महाराज हर्ष-वर्धन (६०७–६४७ ईस्वी) का राजकवि था, कालिदास की अपने ग्रन्थ हर्षचरित में प्रशंसा इस प्रकार की है:—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥ (हर्षचरित, भूमिका १६)

सुबन्धु की वासवदत्ता में दुर्वासा के शकुन्तला के प्रति शाप का उल्लेख है। अब यह एक ऐसी घटना है जिसका आविष्कार कालिदास ने किया था और यह महाभारत में अनुपलब्ध है। बाण ने हर्षचरित में (१८वां पद्य) छठी शताब्दी कहा है कि सुबन्धु ने कवियों के अभिमान को नीचा दिखाया। उत्तर सीमा अतएव कालिदास छठी शताब्दी से पहले रहा होगा। यह कालिदास के समय की उत्तर सीमा बन गई।

भारतीय जन-श्रुति कालिदास को विक्रमादित्य का, जिसने ५७ ईस्वी पूर्व विक्रमी संवत चलाया, राजकवि बताती है। नीचे का पद भारतीय जनश्रुति इसकी पुष्टि में कहा जाता है:—

धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंह-शङ्कु-वेतालभट्ट-घटकर्पर-कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥
(ज्योतिर्विदाभरण २२. १०)

अभिनन्द ने अपने ग्रन्थ रामचरित में लिखा है कि कालिदास को शकारी

द्वारा यश प्राप्त हुआ।* यह शकारि कहा जाता है कि वही विक्रमादित्य था जिसने शकों को जीत कर ५७ ई० पू० में विजय की स्मृति के लिए संवत् चलाया।

वास्तविक कठिनाई तो यह है कि पूर्व समय में कई ऐसे राजा हुए हैं जिन्होंने विक्रमादित्य उपाधि को ग्रहण किया था और इसी

तीन कालिदास तरह कालिदास भी एक से अधिक हुए। राजशेखर तीन कालिदास कवियों का उल्लेख करता है (भूमिका पृष्ठ २) इसके अतिरिक्त 'आधुनिक ज्योतिर्विदों के साथ इसी नाम के तीन कवियों का होना इतना निश्चित है कि वे तीन संख्या को दिखाने के लिए कालिदास का नाम ही प्रयुक्त करते हैं। (जड. डी. एम. जी. १२. ७१३)

"धन्वन्तरि-क्षपणक..." वाला पद्य जो ऊपर उद्धृत किया गया है, निःसन्देह विश्वसनीय नहीं। इस पद्य द्वारा सभी लेखक जो

ज्योतिर्विदाभरण के पद्य का मूल्य वहां गिने गए हैं, समकालीन बन जाते हैं। यह कल्पना किसी प्रकार भी सच्ची नहीं प्रमाणित की जा सकती। इस उद्धरण में कम से कम एक बात सत्य जान पड़ती है, और यहां सब प्रमाण सहमत हैं, कि कालिदास और विक्रमादित्य सम्बद्ध हैं। सो विचारणीय बात यह है कि कौन-सा विक्रमादित्य हमारे नाटककार कालिदास का आश्रयदाता था। यहीं सब झगड़ा है। क्योंकि कुछ विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते कि ५७ ईस्वी पूर्व में कोई विक्रमादित्य हुआ, इसलिए उन-उन राजाओं की छान-बीन की गई, जिन्होंने विक्रमादित्य उपाधि को ग्रहण किया। इससे कई मत उठ खड़े हुए हैं।

होर्नले का कहना है कि विक्रमादित्य जो हमें अभीष्ट है, वह मध्य-प्रदेश का यशोधर्मन् है, जिसने हूणों को पराजित किया था, जिसके

---

* हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं
सद्यः सत्क्रियया[illegible] ॥

(रामचरित, मंगलाचरण १३)

होर्नले और पाठक का ६ठी शताब्दी के डी० का मत आगे मिहिरकुल भी नत-मस्तक हुआ था। परन्तु यह कहीं भी नहीं उल्लेख किया गया कि यशोधर्मन् ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। होर्नले का विचार है कि रघु-दिग्विजय का (रघु० ४) आधार यशोधर्मन् की विजय है। (मंडसोर शिला ५३३ ई०) डा० ब्लाक का मत है कि रघु-दिग्विजय और समुद्रगुप्त की विजय एक जैसी है। (समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति) इस मत का कुछ भी सत्कार नहीं हुआ। के० बी० पाठक ने रघुवंश में आए हूण शब्द द्वारा बहुत कुछ दूर की सोची है। किन्तु इससे प्रमाणित कुछ नहीं होता। हूण जातियों का उल्लेख रामायण और महाभारत में भी है। हूण लोगों का शक्तिशाली राज्य भारत के सीमान्त पर भी तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में था।

वी.ए. स्मिथ का ५वीं शताब्दी का मत गुप्त-काल (३००-६५० ईस्वी) साहित्यिक और कला-कौशल के पुनरुद्धार के कारण प्रसिद्ध है। शिला-लेखों के प्रमाण द्वारा प्रकट है कि काव्य की शैली पूर्णतया परिपक्वता को प्राप्त हो चुकी थी। वहां चन्द्रगुप्त दूसरा (३५७-४१३ ईस्वी) और स्कन्दगुप्त (४५५-४८० ईस्वी) जैसे कुछ गुप्त-नरेश थे, जिन्होंने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास किसी एक वा अधिक गुप्त-नरेशों के समय रहा होगा। वी. ए. स्मिथ का कहना है: "यह असम्भव नहीं है कि कालिदास का सर्वप्रथम ग्रन्थ...४१३ ईस्वी से पहले रचा गया हो, अर्थात् जब चन्द्रगुप्त दूसरा सिंहासन पर विराजमान था, किन्तु मेरा झुकाव इस ओर है कि कुमारगुप्त प्रथम (४१३-४५५ ईस्वी) के शासन-काल में कवि के पिछले ग्रन्थ रचे गये, और यह कदाचित् ऐसा जान पड़ता है, बल्कि सम्भव जान पड़ता है, कि कवि का समस्त रचना-काल इसी राजा के समय में घटा हो। यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि कवि ने स्कन्दगुप्त के सिंहासनारूढ़ होने के अनन्तर भी लिखना जारी रखा हो।" इस मत के अनुगामी "आसमुद्रक्षितीशानां" (रघु० १. ५) और "आकुमारकथोद्घातां...." रघु० ४. २०) में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के लिए क्रमशः संकेत समझते हैं। वे यह भी कहते हैं कि कुमारसम्भव कदाचित् कवि ने कुमारगुप्त (४१३-४५५ ईस्वी) के जन्म-उत्सव पर लिखा हो।

डा० कीथ भी इस पर सहमत है कि कालिदास गुप्त-काल में उत्पन्न हुआ। उसे "हर बात बताती है कि उसका गुप्त-काल के स्वर्ण-युग में जन्म हुआ; मालविकाग्निमित्र में अश्वमेधयज्ञ का उल्लेख प्रायः अवश्यमेव इसी प्रकार समझना चाहिए कि यह समुद्रगुप्त द्वारा चलाए यज्ञ का स्मृति-चिह्न है"। उसका मत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य हमारे नाटककार कालिदास का आश्रयदाता था, "जैसा कि नाटक विक्रमोर्वशी के नाम से कदाचित् संकेत किया गया है।"

डा० कीथ का लगभग ४थी शताब्दी का मत

हरिषेण कृत प्रयाग-प्रशस्ति का शिला-लेख और वत्सभट्टी-कृत मंडसोर का शिला-लेख ४७२-३ ईस्वी इस पेचीदा पहेली पर बहुत प्रकाश डालते हैं। "केवल शिला-लेख ही समस्त गुप्त-काल में परिपक्व काव्य शैली के प्रमाणित करने को पर्याप्त हैं। (ए. बी. कीथः हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७७) वत्सभट्टी पर कालिदास का बहुत प्रभाव पड़ा है। डा० कीथ का अतएव विचार है कि "कालिदास ४७२ ईस्वी से पूर्व हुआ, और सम्भव है काफ़ी पहले हुआ हो और उसे ४०० ईस्वी के लगभग रखना पूर्णतया उचित प्रतीत होता है।"

दो प्रशस्तियों का महत्त्व

क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के विषय में प्रसिद्ध है कि उसने उज्जयिनी से हूणों को निकाल बाहर किया और वह अपनी राजधानी वहां उज्जयिनी ले गया, इसलिए प्रायः यह माना जाता है कि वही हमारे नाटककार का आश्रयदाता था।

भारतीय जन-श्रुति के अनुगामी ४थी शताब्दी ईस्वी को अस्वीकार करते हैं। वास्तव में विक्रमादित्य के लिए जो छानबीन की गई थी, वह इसी लिए थी क्योंकि कोई भी पाश्चात्य पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में किसी विक्रमादित्य का होना न मानता था। भारतीय जन-श्रुति के अनुगामी कहते हैं कि धर्म-शास्त्र की साक्षी बताती है कि कालिदास पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुआ। शकुन्तला के छठे अंक में धनमित्र निःसन्तान मर जाता है और उसकी सम्पत्ति राज्य ग्रहण कर लेता है, न कि उसकी स्त्री। इस बात से पता चलता है कि मनु, आपस्तम्ब, और वसिष्ठ स्मृतियों का जोर था। बृहस्पति, [illegible] और याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ

पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व

तब लिखी न गई थीं। बृहस्पति स्मृति प्रायः पहली शताब्दी ईस्वी में लिखी मानी जाती है। अतएव कालिदास को वे लोग इस समय से पूर्व हुआ मानते हैं, अर्थात् पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व। इसी प्रकार की साक्षी है चोरी के दण्ड की (देखो, शकुन्तला अंक ६ प्रवेशक और विक्रमोर्वशी अंक ५. १. **आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः**)। मनु और आपस्तम्ब चोरी के दण्ड के लिए प्राण-दण्ड देते हैं और बृहस्पति विकल्प में रुपये का दण्ड देता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि चोरी का दण्ड सभ्यता के विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे कम होता गया है।

शैली की साक्षी

कुछ विद्वान् शैली की साक्षी के कारण पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व का काल मानते हैं। उनका कहना है कि बाण, सुबन्धु और भवभूति की मध्य-युग की कृत्रिम शैली, जिसमें लम्बे-लम्बे समास, आलंकारिक धोखे और श्लेष थे, का आरम्भ नासिक और गिरनार शिला-लेखों से हुआ था। कालिदास की अकृत्रिम और सरल शैली, जो इन विशेषताओं से रहित थी, इस समय से पहले समय की ओर संकेत करती है, अर्थात् पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व की ओर। उनका विचार है कि शैली के परिवर्तन के लिए चार-पाँच शताब्दियों का बीत जाना आवश्यक है।

अश्वघोष और कालिदास

उन विद्वानों ने कुछ समय से एक नई साक्षी का आश्रय लेना आरम्भ किया है। उन्हें अश्वघोष के बुद्ध चरित (३. १३-२४) और कालिदास के रघुवंश (७. ५-१७) और कुमारसम्भव (७. ५६ ७०) की तुलना इस परिणाम पर विवश करती है कि अश्वघोष कालिदास से प्रभावित हुआ है न कि कालिदास अश्वघोष द्वारा। नीचे कुछ इनमें से पद्य उद्धृत किये जाते हैं :—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥
(कुमार० ५. ८५)

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ॥
(सौन्दरा० ४. ४२)

और तं प्रेषय योऽन्येन ययौ न तस्थौ यश्चात्र तस्थौ पथि सोऽन्वगच्छत् ।
द्रुतं ययौ यः सदयं सधीरं यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पपात ॥
(सौन्दरा० ४. ४३)

एक स्थान पर अश्वघोष ने बड़ी हास्यप्रद उपमा दी है:—

दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः ।
वपुषाऽग्र्येण (यो नाम सुन्दरोपपदं दधे) ॥ (सौन्दरा० २. ५८)

यह कहा जाता है कि, यहाँ परिवर्तन परिवर्तन के लिए हुआ है। कालिदास का पद्य है:—व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः । (रघु० १. १३)

"कालिदास ने यहाँ दिलीप की आँखों का उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसके कन्धों की बैल के कन्धों से तुलना की है। बेचारे अश्वघोष ने परिवर्तन करना चाहा, और अपनी चोरी ज़ाहर कर दी।" (के. सी. चट्टोपाध्याय)

अश्वघोष ने अनुकरण किया है न कि कालिदास ने

वे लोग इस साक्षी से परिणाम निकालते हैं कि कालिदास अश्वघोष का पूर्ववर्ती है। क्योंकि अश्वघोष को शक संवत् के संस्थापक कनिष्क का गुरु कहा जाता है, इसलिए कालिदास को ७८ ईस्वी से पहले होना मानना चाहिए। इस प्रकार यदि कालिदास अश्वघोष से पहले हुआ, तो उसे पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में मानना होगा, जो कि जन-श्रुति के अनुसार का समय है। अब पलड़ा उलट गया है। अब यह माना जाने लगा है कि पूर्वकाल में उज्जयिनी में एक विक्रमादित्य हुआ था, जिसने शकों को हरा कर, पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में विक्रम संवत् चलाया था। (कैंब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, भाग १ पृष्ठ···)

परिणाम

यह सर्वथा सम्भव जान पड़ता है कि कालिदास ईसा से पहले विक्रमादित्य शकारि के समय में हुआ। हाल की सप्तशती में भी एक विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है। हाल का समय ६८ ईस्वी * कहा जाता है। अतएव एक विक्रमादित्य पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में अवश्य

* म. म. स्वर्गीय हरिप्रसाद शास्त्री का कहना है कि "हाल पहली शताब्दी ई० के बाद नहीं रखा जा सकता।" और सप्तशती एक राजा विक्रमादित्य का उल्लेख करती है जो सम्भवतया विक्रमी संवत् का संस्थापक हो। (एपी. इण्डि. १२, ३२०)

हुआ। यदि विक्रमादित्य पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुआ, तो वह अवश्य ही विक्रम संवत् का संस्थापक होगा। इस प्रस्ताव के आधार पर यह माना जा सकता है कि कालिदास पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुआ।

२. नाटक

(क) वस्तु

अंक १

नाटक का कथानक बकुलावलिका तथा कौमुदिका दो दासियों के संवाद द्वारा आरम्भ होता है। कौमुदिका हाथ में नागमुद्रा लिए जा रही है; वह यह अंगूठी अभी-अभी सुनार से रानी धारिणी के लिए लाई थी। बकुलावलिका को रानी धारिणी ने नाट्याचार्य गणदास से यह पूछने को भेजा था कि उसकी नई शिष्या मालविका नृत्य और संगीत की शिक्षा ग्रहण करने में कैसे चल रही है। इन दोनों के संवाद से विदित होता है कि राजा अग्निमित्र ने अकस्मात् मालविका को चित्र में रानी के पास ही चित्रित देख लिया और उस पर मोहित हो गया। ईर्ष्यालू रानी अब मालविका को राजा के सामने नहीं आने देती। इस संवाद के अनन्तर कौमुदिका तो रानी के पास चली जाती है और बकुलावलिका गणदास के पास। यह पूछे जाने पर कि मालविका उपदेश ग्रहण करने में कैसी है, गणदास उसकी अद्भुत बुद्धि और कौशल पर अपना परम सन्तोष प्रकट करता है। उसके अपूर्व गुणों से प्रभावित होकर वह पूछता है कि मालविका आई कहाँ से? बकुलावलिका उसे बताती है कि रानी के भाई वीरसेन ने, जो सीमान्तवर्ती दुर्ग का रक्षक है, बहन को भेंट में भेजी है।

दूसरे दृश्य में हम राजा अग्निमित्र को मन्त्री के साथ देखते हैं। मन्त्री उसे विदर्भ-राज यज्ञसेन के आये पत्र का तात्पर्य बता रहा है। अग्निमित्र ने विदर्भ-राज को एक पत्र लिखा था, जिसमें उसे माधवसेन को उसकी स्त्री और बहन सहित छोड़ देने को कहा था। वे सब उसके सीमान्त-रक्षक द्वारा मार्ग में आक्रमण किये जाने पर बन्दी हो गये थे। विदर्भ-राज उत्तर में अपने भाई माधवसेन को छोड़ने को कहता है। माधवसेन को अग्निमित्र ने बन्दी बना रखा था। इस अदले-बदले की बात से राजा क्रुद्ध हो जाता है और वह अपने साले वीरसेन को शत्रु पर आक्रमण करने की आज्ञा दे देता है।

अब राजा के पास राजा का मित्र विदूषक दिखाई पड़ता है। उसे राजा

ने कोई ऐसा उपाय ढूंढ़ निकालने के लिए कहा था कि जिससे वह मालविका को देख सके। उसने कोई उपाय निश्चय कर लिया था और राजा को भी वह उपाय बड़ा अच्छा जँचा। इसी समय दोनों नाट्याचार्य हरदत्त और गणदास झगड़ते वहां आ पहुँचते हैं और अपनी छुटाई-बड़ाई का निर्णय करवाना चाहते हैं। रानी धारिणी और परिव्राजिका भी वहां बुला ली जाती हैं। राजा परिव्राजिका को जज बनाता है। वह कठिनाई से इस पद को स्वीकार करती है। रानी सारा मामला समझ जाती है। वह गणदास को उपदेश दिखाने से मना करती है, परन्तु वह नहीं मानता। बल्कि त्याग-पत्र तक देने को तैयार हो जाता है। अन्त में रानी को मानना ही पड़ता है।

अंक २ — दूसरे अंक में संगीत का प्रबन्ध दिखाई देता है। गणदास वयोवृद्ध होने के कारण उपदेश-प्रदर्शन का प्रथम अवसर पाता है। इससे राजा को मालविका के देखने का अवसर शीघ्र ही मिल जाता है। वह चलित नृत्य करती है और गाती है **"दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन् भव हृदय निराशम्......।"** यह गीत राजा के हृदय में प्रेम-पीड़ा को और प्रबल कर देता है। इस समय भाट बताता है कि दुपहर हो गई। अतः हरदत्त को उपदेश-प्रदर्शन के लिए अगले दिन को कहा जाता है। राज-सभा भंग होती है।

अंक ३ — राजा मालविका के लिए प्रेम-उत्सुक है। विदूषक उसे सूचना देता है कि मैंने मालविका को अपनी तरफ़ कर लिया और उसने वचन दिया है कि वह महाराज को मालविका से मिलने में सहायता देगी, चाहे मालविका को रानी बड़ी सावधानी से बचा कर रख रही है। विदूषक अब राजा को प्रमदवन जाने को स्मरण कराता है, जहां कि इरावती, राजा की दूसरी रानी, ने अपनी दासी निपुणिका द्वारा वसन्त ऋतु के आगमन पर झूला झूलने के लिए बुलावा दिया था। प्रमदवन के मार्ग में राजा और विदूषक को अशोक-दोहद की पूर्ति करती हुई मालविका दिखाई दे जाती है। वह अपने आप ही बोल रही है कि मुझे रानी धारिणी ने अशोक-दोहद की पूर्ति के लिए आदेश दिया था, क्योंकि वह स्वयं पैर में चोट के कारण यह कार्य न कर सकती थी। वह झूला झूलते समय गौतम की चपलता के कारण गिर पड़ी थी। उसने

मालविका को मनोरथ पूर्त्ति का वचन दिया था, यदि पाँच रातों के भीतर अशोक खिल उठे। दोनों मालविका की इस बात को सुन लेते हैं। कुछ देर के बाद बकुलावलिका पैरों के लिए रक्तालक्तक और नूपुर लेकर आती है और वह उसके पैरों को सजाना आरम्भ करती है। इस समय वहां मद-मस्त इरावती दासी निपुणिका के साथ आ पहुँचती है। इरावती और राजा दोनों एक दूसरे को देखे बिना मालविका और बकुलावलिका के वार्तालाप को छिपे हुए सुनते हैं। बकुलावलिका अपने वचन के अनुसार मालविका को राजा के प्रेम के सम्बन्ध में कुछ कहती है। जब मालविका के दोनों पैरों पर रंग लग जाता है और नूपुर बन्ध जाते हैं, तब वह उस अशोक पर पादाघात करने को कहती है। ज्योंही वह अशोक पर लात मारती है, त्योंही राजा और विदूषक सामने प्रकट हो जाते हैं और मालविका को राजा के प्रिय अशोक वृक्ष को चोट करने के अपराध में डांट बताते हैं। दोनों क्षमा माँगती हैं। राजा तब मालविका को अपना प्रेम प्रकट करता है। इसी समय इरावती प्रकट हो जाती है और प्रेम-दृश्य का मजा किरकिरा हो जाता है। बकुलावलिका और मालविका खिसक जाती हैं। इरावती राजा पर विश्वासघात का दोष लगाती है। राजा इस घटना को समझाना चाहता है परन्तु रानी आगबबूला हुई चली जाती है। राजा उसके पीछे जाता है, पैर पकड़ता है, परन्तु रानी परवाह नहीं करती और चली ही जाती है।

अंक ४ राजा अग्निमित्र ने विदूषक को मालविका का समाचार लाने को भेज रखा था। वह लौटकर बताता है कि कैसे इरावती ने धारिणी के पास जाकर यह सारी घटना कह सुनाई। धारिणी ने मालविका और बकुलावलिका को अन्धेरे तहखाने में डाल दिया था और वहां की रखवालिन माधविका को आदेश दे रखा था कि उन्हें तब तक न छोड़े जब तक उसकी सर्पमुद्रा उसे न दिखाई जाय। विदूषक उसे चालाकी भरा एक उपाय सुझाता है। राजा उसे पसन्द करता है, और उसे कार्य रूप में लाने को कहता है।

राजा धारिणी के पास उसकी खबर लेने जाता है। पूर्व निश्चित क्रम के अनुसार विदूषक वहां घबड़ाया हुआ पहुँचता है और साँप द्वारा डसे जाने का अभिनय करता है। उसे ध्रुवसिद्धि वैद्य के पास भेज दिया जाता है। वैद्य सर्प-

मुद्रित कोई वस्तु चाहता है, जिसके द्वारा वह विष का वेग हटा सके। रानी तुरन्त दासी के हाथ अपनी सर्प-मुद्रा भेज देती है। वह मुद्रा लेकर जाती है और लौटकर बताती है कि गौतम स्वस्थ हो गया। वह राजा को सूचना देती है कि मन्त्री वाहतक राज-कार्य पर कुछ परामर्श लेना चाहता है। राजा बाहर जाता है और विदूषक को मिलता है। उसने रानी की सर्प-मुद्रा द्वारा मालविका और बकुलावलिका को बन्दीगृह से छुड़ा लिया था और वे दोनों समुद्र-गृह में राजा की प्रतीक्षा कर रही थीं। राजा और विदूषक दोनों वहां पहुँचते हैं। राजा मालविका को प्रेम प्रकट करता है। बकुलावलिका और विदूषक वहां से चलते बनते हैं। विदूषक दरवाज़े पर डेरा जमाता है और बकुलावलिका बाहर कहीं छिप जाती है। दुर्भाग्यवश विदूषक दरवाज़े पर बैठते ही ऊँघने लगता है। इसी समय रानी इरावती निपुणिका दासी के साथ वहां साँप डसे विदूषक का हाल-चाल पूछने और राजा से अपनी पूर्व धृष्टता के लिए क्षमा माँगने को आ जाती है। दरवाज़े पर वे विदूषक को सुपने में बड़बड़ाते सुनती हैं: "वह कह रहा है कि मालविका इरावती से बढ़ जाय।" इस बात से चिढ़कर निपुणिका उस पर लकड़ी फेंक कर उसे डराना चाहती है। विदूषक डर उठता है और चिल्ला पड़ता है "मेरे ऊपर साँप गिर पड़ा"। यह सुनकर राजा अपने मित्र की रक्षा के लिए बाहर आता है और उसे रोकती हुई मालविका भी पीछे-पीछे आ जाती है। ज्योंही राजा विदूषक के पास पहुँचता है, वह जान लेता है कि यह तो लकड़ी का डण्डा है, न कि साँप। विदू० ने अब यही सोचा कि उसने जो साँप के डसने के निशान केतकी के काँटे से बनाये थे, वे सचमुच के होने लगे थे। अब तो इरावती के वहां प्रकट हो जाने पर राजा की बुद्धि जड़ हो गई। जयसेना खबर लाती है कि वसुलक्ष्मी गेंद के पीछे दौड़ रही थी कि बन्दर से बहुत डर गई है। इरावती इस खबर से बहुत घबड़ा उठती है और राजा को प्रार्थना करती है कि महाराज उसे धीरज देने के लिए जल्दी जायँ। मालविका और बकुलावलिका के अतिरिक्त सब चले जाते हैं। इसी समय मालिन मधुकरिका खबर सुनाती है कि रक्ताशोक पाँच रातों के भीतर खिल उठा। मालविका और बकुलावलिका दोनों उसके पीछे चल पड़ती हैं कि रानी धारिणी से वचन दिया हुआ पारितोषिक लें।

रानी धारिणी ने राजा को प्रार्थना की थी कि वह रक्ताशोक वाले स्थान पर

अंक ५ पधारे, वह वहां मालविका समेत सभी दासियों के साथ प्रतीक्षा कर रही है। जयसेना राजा को मार्ग दिखाती है। राजा और विदूषक धारिणी के पास पहुँच जाते हैं। वहां मालविका और परिव्राजिका आदि भी उपस्थित हैं। विदर्भ-राज की पराजय की सूचना मिलती है। इसी समय कञ्चुकी आकर बताता है कि विदर्भ से दो कला-निपुण कन्यायें भेजी गई हैं। वे बुलाई जाती हैं और वे मालविका और परिव्राजिका को पहचान लेती हैं। पता चलता है कि मालविका माधवसेन की बहन है। माधवसेन अभी बन्दीगृह से विदर्भ-राज की पराजय के बाद मुक्त हुआ है। परिव्राजिका माधवसेन के मन्त्री सुमति की बहन है। सुमति ने जंगल में डाकुओं से मालविका को बचाते हुए अपने प्राण त्याग दिये थे। माधवसेन और यज्ञसेन में विदर्भराज आधा-आधा बाँट दिया जाता है। इस समय राजा अग्निमित्र के पिता सेनापति पुष्यमित्र का पत्र पहुँचता है। उसमें लिखा है कि कैसे कुमार वसुमित्र ने यवनों को सिन्धु तट पर पछाड़ा। सेनापति अश्वमेध-यज्ञ पर राजा अग्निमित्र को सस्त्रीक बुलाता है। इस समय सब तरफ़ हर्ष उमड़ पड़ता है। रानी धारिणी मालविका को राजा को भेंट करती है। इरावती भी इस विवाह-सम्बन्ध में स्वीकृति दे देती है। यहां पर भरत-वाक्य से नाटक समाप्त होता है।

नाटक में ऐतिहासिक सामग्री

नाटक में ऐतिहासिक सामग्री के विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पुष्यमित्र, अग्निमित्र, और वसुमित्र निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। जान पड़ता है कि मन्त्री वाहतक, अग्निमित्र का साला वीरसेन, विदर्भ-राज यज्ञसेन, माधवसेन और उसका मन्त्री सुमति कदाचित् ऐतिहासिक नाम हों। कोई ऐतिहासिक सामग्री नहीं जिससे इसका समर्थन हो। मौर्य-सचिव का नाम (अंक १.७) सन्दिग्ध नाम है। कुछ लोग कहते हैं कि वह शायद बृहद्रथ मौर्य का, जिसे पुष्यमित्र ने मारा था, मन्त्री था। हमारे पास इसके समर्थन के लिए कोई सामग्री नहीं। पद्य १.७ से जान पड़ता है कि वह विदर्भ-राज यज्ञसेन का साला था। बकुलावलिका और धारिणी भी ऐतिहासिक नाम जान पड़ते हैं। हो सकता है मालविका वास्तविक नाम हो। शेष पात्र नाटककार की कल्पना की रचना प्रतीत होते हैं।

नाटक के आरम्भ में एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक संकेत है। बताया गया है कि नाटककार भास, सौमिल्लक, और कविपुत्र कालिदास के पूर्ववर्ती थे।

नाटक का तत्कालीन समाज की अवस्था पर प्रकाश

मालविकाग्निमित्र नाटक द्वारा राजा अग्निमित्र के समय की समाज की अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि कालिदास के समय की समाज की अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है यदि यह माना जाय कि नाटककार ने पूर्वकालीन समाज का वर्णन करते समय कुछ सीमा तक अपने समय की समाज का ही वर्णन किया है।

पहली बात जो हमें दिखाई पड़ती है वह है राजा अग्निमित्र का बहु-विवाह।

बहु-विवाह

इसी बात पर प्रोफेसर विलसन ने कहा है कि आचार-व्यवहार जो वर्णन किया गया है वह बिगड़ी हुई हिन्दू-समाज का है। (थियेटर आव दी हिन्दूज़ : भाग २ पृष्ठ ३४८) बहु-विवाह का विचार पाश्चात्य समालोचकों को कदाचित् खटकता हो, किन्तु ऐसी प्रथा यहाँ राजाओं में चिरकाल से चली आई है और अब भी पाई जाती है।

कालिदास के नायक अनैतिक अथवा अपवित्र भावनाओं से रहित हैं। अग्निमित्र कहता है—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि ! बैम्बिकानां कुलव्रतम्। (४.१४)

कालिदास के प्रेम का आदर्श निम्न पद्य द्वारा प्रतीत होता है:—

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्पर-प्राप्ति-निराशयोर्वरं शरीर-नाशोऽपि समानुरागयोः॥

(३. १५)

ऐसे प्रेम-आदर्श के कारण राजा लोग अपनी रानियों के प्रति परम सावधानता से व्यवहार करते थे। यही कारण है कि वे भी अपने पति को अपना सर्वस्व समझकर व्यवहार करती थीं। यहां तक कि **"प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।" (५. १६)**

कालिदास ने राज-सभा का चित्र अंकित किया है। हमें बताया गया है कि राजा लोग कैसे अपना समय व्यतीत किया करते थे। कैसे उन्होंने दिन और रात को दैनिक कार्यों के करने के लिए पृथक्-पृथक् विभागों में बाँट रखा था। व्यापार सुव्यवस्थित था। हम देश के एक किनारे से दूसरे किनारे की ओर जाते व्यापारियों के कारवान देखते हैं। वे अपनी रक्षा के लिए सैनिकों को नियुक्त करते

थे। देश तो चोर और डाकुओं से भरा पड़ा था। विद्वान ब्राह्मणों को अच्छी-अच्छी दक्षिणायें दी जाती हैं। नृत्य संगीत, चित्रकला इत्यादि विद्याओं को राजा का आश्रय प्राप्त होता था। गणदास और हरदत्त को नाट्याचार्य नियुक्त कर रखा था। परिव्राजिका चाहे संन्यासिनी थी, तब भी वह नृत्य तथा संगीत में निपुण थी। उपदेश प्रदर्शन में उसे ही जज बनाया जाता है। प्रतीत होता है कि वह उच्च-कुलीन वातावरण में पली थी। वह इस विषय में अपना ज्ञान अंक २ श्लोक ८ में प्रकट करती है। विदर्भ-देश से जो दो कन्यायें उपहार में भेजी जाती हैं, वे संगीत में सिद्धहस्त थीं। रानी धारिणी चित्रकार के पास चित्रपट देखने के लिए जाती है, इससे उसका चित्रकला में लगन और उत्साह प्रकट होता है। चित्रकार भी नाट्याचार्य की तरह राजा के आश्रय में होगा। चित्रकला की .खूब वृद्धि हो चुकी होगी तभी तो मालविका का चित्र देख कर राजा का कुतूहल बढ़ जाता है। आजीविका के लिए पढ़ाना घृणा-युक्त दृष्टि से देखा जाता है:—

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।

(१. १७)

यह उत्तम और पवित्र व्यवसाय है। वेद, कामतन्त्र, राजनीति शास्त्र और अन्य विद्याएँ ललित-कलाओं सहित, अध्ययन की जाती थीं। चिकित्सा कला काफ़ी वृद्धि को प्राप्त कर चुकी थी। इसके साथ कुछ क्रिया तथा दान आदि का व्यवहार मिला लिया जाता था। वैद्य ध्रुवसिद्धि विदूषक की विष-चिकित्सा उदकुम्भ-विधान द्वारा करता है। लोग चिकित्सकों के कथनों का प्रायः अनुगमन करते हैं।

उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।

परिव्राजिका का साँप डसे का इलाज आज भी अद्वितीय है, चाहे पाश्चात्य चिकित्सा बहुत बढ़ चुकी कही जाती है। ज्योतिष-विद्या बहुत जन-प्रिय प्रतीत होती है:—

दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा, सोपसर्गं वो नक्षत्रम्। सर्वबन्धनमोक्षः क्रियतामिति।

ग्रह की वक्र-गति अशुभ मानी जाती है। देखो, "**यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति।**" किसी महान् कार्य में लगे पुरुषों की प्राण-रक्षा के निमित्त ब्राह्मणों को अतुल धन-सम्पत्ति का दान देना, यह भी ज्योतिष का प्रभाव प्रकट

करता है। ज्योतिषी के कथन प्रमाण माने जाते हैं। बौद्ध परिव्राजिका भी साधु के उस वचन पर विश्वास करती है कि वह एक वर्ष सेवा-भाव से व्यतीत करके अपने योग्य पात को प्राप्त होगी। जान पड़ता है कि बौद्ध मत पर लोगों की आस्था थी। परिव्राजिका को 'पण्डिता' और 'भगवती' कहकर पुकारा जाता है। यह सुनकर कि परिव्राजिका ने गेरुए वस्त्र ग्रहण कर लिए, अग्निमित्र ने कहा: "युक्तः सज्जनस्यैष पन्थाः।"

विजय और पराजय की सूचनाओं द्वारा हमें यह कहना पड़ता है कि राजा चाहे मालविका के प्रेम में उन्मत्त था, तब भी वह राज-काज में भी व्यग्र दिखाई पड़ता है। वह तानाशाही राजा प्रतीत नहीं होता। किसी योजना के लागू करने से पहले वह अपने मन्त्रियों से परामर्श करता है।

नाटक के पात्र

अग्निमित्र

राजा अग्निमित्र नाटक का नायक है। वह धीरोदात्त है, अर्थात् वीर और विचारवान् है। कुछ समालोचक उसे कायर वीर, प्रमत्तकामी और कपटी कहते हैं। किन्तु उसके चरित्र का यह अनुमान ठीक नहीं मालूम देता। माना कि वह मालविका पर लट्टू हो जाता है और उसे पाने का प्रयत्न करता है। किन्तु हम इसमें कोई प्रमत्तता नहीं पाते। यदि वह साहसी होता तो उसने रानी धारिणी की परवाह न की होती। "बलवत्खलु साभिलाषस्त्वयां भर्ता। केवलं देव्या धारिण्याश्चित्तं रक्षन्नात्मनः प्रभुत्वं न दर्शयति।" (अंक ३ प्रवेशक) द्वारा हमें विदित होता है कि राजा प्रेमाग्नि को अपने हृदय में शान्तिपूर्वक धारण कर रहा है, चाहे व्याकुलता अवश्य है। वह अपनी रानियों के प्रति बड़ा विनीत व्यवहार करता है। इसलिए उसने रानी इरावती को समझाना चाहा था कि मालविका और बकुलावलिका क्यों उसके पास आई थीं।

• नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सव-दिवसेषु परिजनो बन्धम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च॥ (४. १७)

और जब धारिणी सन्देह करती है कि गणदास और हरदत्त के झगड़े में राजा का हाथ है, तब वह कहता है:—

अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि! मया प्रयुक्तमिदम्।
प्रायः समानविद्याः परस्पर-यशःपुरोभागाः॥ (१. २०)

मालविका भी तो उसे रानी से डरता समझती है, वह कहती है: "यो न बिभेति स मया भट्टिनी दर्शने दृष्ट-सामर्थ्यो भर्ता। (४. १३-१४), और इसके उत्तर में राजा उसे कहता है :

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि ! बैम्बिकानां कुल-व्रतम्। (४. १४)

राजा का दाक्षिण्य तो उसके अन्तःपुर में विख्यात है। विदूषक उसका ध्यान इसी ओर दिलाता है जब वह इरावती को देखने के लिए इनकार कर देता है। देखो,

नार्हति भवानन्तःपुरप्रतिष्ठितं दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम्।

(३. ३-४)

किन्तु वह डरता है कि कहीं रानी भाँप न लें कि प्रेम तो किसी और को जा चुका है।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डन-हेतवो हि दृष्टाः।
उपचार-विधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः।

(३. ३)

कुछ अवसरों पर राजा ने झूठ कहा है। देखो, "सुन्दरि ! न मे मालविकया कश्चिदर्थः। (३. १९-२०); नार्हति कृतापराधः। (४. १७)" किन्तु यह झूठ इसलिए बोले गए हैं कि वह दाक्षिण्य भाव बनाए रखे। वह दूसरी रानियों को अप्रसन्न नहीं करना चाहता। वह चाहता है कि मालविका बदले में प्रेम करे। जब वह बकुलावलिका के कथन "एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरस्ते वर्तते।" पर मालविका को "किं भर्ता" कहते सुनता है, तब वह समझता है कि बदले में प्रेम मिल गया। वह विदूषक से कहता है : "सखे ! पर्याप्तमेतावता कामिनाम् (३. १४-१५)" उस समय भी अधीरता प्रकट नहीं करता। वह तब तक प्रतीक्षा करता है जब तक कि रानी धारिणी उसे मालविका को भेंट नहीं कर देती। तब भी उसे स्वीकार करने में वह लज्जा भाव प्रकट करता है। यह इस प्रकार स्पष्ट है कि वह प्रमत्त कामी नहीं है। यह अभियोग उस पर मिथ्या लगाया गया है।

यद्यपि अग्निमित्र "प्रेम-पीड़ित-सा नायक दिखाई देता है, तथापि युद्ध तथा विजयों के समाचार हमें उसके राजकीय आवश्यक कर्तव्यों का स्मरण कराते हैं। (संस्कृत ड्रामः ...) (१) हम पहले अंक में ही राज-काज

में व्यग्र पाते हैं। वह वीरसेन को आदेश भेजता है कि विदर्भ राज यज्ञसेन पर आक्रमण कर दिया जाय। इस आक्रमण का परिणाम हम अन्तिम अंक में देखते हैं जब विदर्भराज की पराजय की सूचना मिलती है।

(२) अग्निमित्र अपने हृदय की उदारता दिखाता है जब कि वह यज्ञसेन को राज्य-च्युत नहीं करता, बल्कि उसका राज्य उसके भाई माधवसेन के साथ आधा-आधा बाँट देता है। यह यहाँ बता दिया जाय कि वह इस प्रकार राज्य बाँटने में बुद्धिमत्ता का काम करता है। भेद (Divide and rule) की नीति को वह अपनाता है। देखो,

> द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः।
> तौ स्थास्यतस्ते नृपती निदेशे परस्परावग्रहनिर्विकारौ ॥ (५. १४)

यह प्रस्ताव मन्त्री-वर्ग द्वारा सहर्ष स्वीकृत कर लिया जाता है :—

> कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येवमेव दर्शनम्।
> (५. १३–१४)

इससे प्रतीत होता है कि राजा कोई भी काम मन्त्री-वर्ग के परामर्श द्वारा करता है। ऊपर बताई ये घटनाएँ इसका समर्थन करती हैं।

जान पड़ता है कि राजा राज-नीति शास्त्र में अभ्यस्त है। देखो, "तेन ह्यवितथं तन्त्रकारवचनम्।" (१. ८–९); "शास्त्रदृष्टमाह देवः।" (१. ७–८)। "युक्तः सज्जनस्यैष पन्थाः" (५.११–१२) वाक्य द्वारा बौद्ध-मत के प्रति राजा का आदरभाव विदित होता है। उसका ज्योतिष में विश्वास है। प्रभु के निमित्त प्राण-त्याग को वह सर्वोच्च गुण समझता है। सुमति की मृत्यु सुनकर वह परिव्राजिका को इस प्रकार धारज बँधाता है: "न शोच्यस्तत्र भवान् सफलीकृतभर्तृपिण्डः। (५.११–१२)" राजा ललित-कलाओं का प्रेमी प्रतीत होता है। उसने इन कलाओं के आचार्यों को आश्रय दे रखा है।

अग्निमित्र ने विदर्भ पर आक्रमण के लिए वीरसेन को आज्ञा दी है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह स्वयं वीर नहीं है। वसुमित्र की सफलता सुन कर विदूषक कहता है: "परितुष्टोऽस्मि यत् पितरमनुगतो वत्सः। (५.१७–१७)" परिव्राजिका कहती है: "कल[illegible]।" और कञ्चुकी कहता है:—

> देव! अयं कुमारः

नैतावता वीर-विजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति ।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्निं दधुरिवोरुजन्मा ॥ (५. १७)

मालविका

मालविका नाटक की नायिका है। वह भोली-भाली, शुद्ध-हृदय और सुशिक्षित है। उसका अद्भुत सौन्दर्य राजा के मन को एक दम खेंच लेता है। मालविका जन्म से विदर्भ की राजकुमारी है किन्तु दुर्भाग्यवश वह राजा अग्निमित्र के अन्तःपुर में दासी के रूप में प्रवेश करती है। ऐसी स्थिति में भी वह अपने दुर्भाग्य को रोती नहीं दिखाई देती। कारण यह प्रतीत होता है कि किसी सिद्ध-पुरुष ने यह भविष्यवाणी की थी कि वह एक वर्ष दासीभाव के अनन्तर अपने योग्य भर्ता को पायेगी। (संवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यति। ५.१२-१३) नृत्य तथा संगीत में उसकी निपुणता पर नाट्याचार्य गणदास का प्रमाण-पत्र पर्याप्त है:

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेष-करणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥ (१.५)

परिव्राजिका भी उसके नृत्य तथा संगीत को निर्दोष बताती है:

यथादृष्टं सर्वमनवद्यम् । कुतः अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः० (२.८)

राजा की भी यही सम्मति है। (२, १३) विदूषक भी कहता है:

न केवलं रूपे, शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका। (२.१२-१३)

छोटी आयु होने के कारण वह भीरुपन और कायरता पर विजय नहीं पा सकी। जब वह अभिनय के लिए दूसरे अंक में राजा तथा दूसरे लोगों के सामने खड़ी होती है तो वह डर जाती है। गणदास उसे कहता है: ' वत्से ! मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव।" (२. २-३) जब राजा विदूषक को चिल्लाते सुनता है कि "मेरे ऊपर सांप गिर गया" तब वह बाहर भागता है। किन्तु मालविका पीछे-पीछे आकर कहती है: "इतनी असावधानी से बाहर न निकलो, राजन् ! वह कहता है कि वहां सांप है।" (भर्तः ! मा तावत् सहसा निष्क्राम सर्प इति भणयते। ४. १५-१६) परिव्राजिका जब डाकुओं के साथ मुठभेड़ का संकेत करती है (तूर्णीस्पष्ट० ५. १०) वह डर जाती है।

मालविका बिल्कुल भोली-भाली कन्या है, राजा के प्रेम में पगी हुई।

बकुलावलिका से राजा का प्रेम जान कर ही वह अपना प्रेम स्वीकार करती है। (३. १३-१४) जब वह चित्र-पट में राजा को इरावती के मुख की ओर टकटकी लगाये देखती है, तो वह ईर्ष्या करने लगती है और कह उठती है: **अदाक्षिण्य इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वं देवीजनमुज्झित्वैकस्या मुखे बद्धलक्षः।** (४. ८-९) उसकी सखी बकुलावलिका भी उसे ईर्ष्या बताती है। (४. ८-९) बकुलावलिका जब उसे बताती है कि वह राजा की चेली है तब वह अपना मुँह मोड़ लेती है और कहती है कि मैं फिर क्यों परेशान होऊँ! (**ततः किमिदानीमात्मानमायासयिष्यामि।** ४. ८-९) चाहे उसके हृदय में राजा रम रहा है, तब भी वह यह बात प्रकट नहीं होने देती। वह रानी धारिणी से डरती है और जानती है कि अग्निमित्र भी उससे डरता है। मालविका जब राजा को बताती है कि वह रानी के भय के कारण अपने मन की नहीं निकाल सकती तब राजा उसे कहता है कि डरो मत। किन्तु वह ताने में कहती है: **यो न बिभेति, स मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता** (४. १३-१४)। जब इरावती उसे राजा के संग समुद्र-गृह में देख लेती है, तब वह भावी दण्ड के भय से कांप उठती है:—

देवीं चिन्तयित्वा वेपत मे हृदयम्। न जानेऽतः परं किं वाऽनुभवितव्यं भविष्यतीति। (अंक ४ के अन्त में)

धारिणी

धारिणी राजा अग्निमित्र की पटरानी है। वह आयु में प्रौढ़ा प्रतीत होती है, क्योंकि उसका लड़का वसुमित्र इतना बड़ा हो चुका है कि वह अश्वमेधयज्ञ की रक्षक सेना का नायक हो सके। सारे नाटक में उसका आचरण उसकी आयु के अनुकूल ही रहा है। वह आदर्श आर्य रमणी है, जो अपने पति को सर्वस्व समझती है। वह अपने स्वामी के लिए अपना सुख और चैन त्याग देना चाहती है। परिव्राजिका की उक्ति उसके चरित्र का सच्चा वर्णन करती है:

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः (५. १९)

वह स्वभाव से शान्त और कोमल-हृदय है। वह गणदास और हरदत्त के कलह में राजा को भाँप लेती है और इरावती की तरह क्रोध करने के बदले वह इतना ही कहती है:

यदि राजकार्येष्वपीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्। (१. १९-२०)

दूसरे अवसर पर वह केवल यही कहती है:—"अहो अविनय आर्य-पुत्रस्य (१. २१-२२) और यह भी अपने आपको धीरे से कहा है। उसकी ईर्ष्या नरम और क्षण स्थायी है। वह इरावती के कहने पर मालविका और बकुलावलिका को बन्दी-गृह में डालती है (४. १–२)। परन्तु बाद में वह ढीली पड़ जाती है जब कि वह इरावती को कहलाती है: 'न म एष मत्सरस्य कालः। तव खलु बहुमानं वर्धयितुं वयस्यया सह निगडबन्धने कृता मालविका (४. १५–१६)। उसकी नम्रता और शिष्टाचार श्लाघनीय हैं। जब राजा उसकी खबर लेने जाता है तब वह पैर पीड़ा-ग्रस्त होने पर भी उठना चाहती है। प्रकृति ने उसे दीन-दुखिया के लिए कोमल हृदय और दया-भाव प्रदान किया था। जब उसके सामने विदूषक चिल्लाता आता है कि मैं सांप से डस लिया गया, वह उसके लिए सब से अधिक उत्सुक दिखाई देती है। वह झटपट अपनी नाग-मुद्रा दे देती है, ऐसा करने का परिणाम वह ज़रा भी नहीं सोचती। उसे सत्य का प्रेम है, और अपने वचन को पूरा करने का सदा ख्याल है। उसकी यह विशेषता बकुलावलिका भली प्रकार जानती है, इसी लिए वह मालविका को मनोरथ पूरा होने की बात से प्रसन्न करती है क्योंकि रानी अपना वचन पूरा करेगी: आश्वसितु सखी। सत्य-प्रतिज्ञा देवी (अंक ४ के अन्त में)।

आरम्भ से ही उसके हृदय में मालविका के लिए सहानुभूति है। उसे अनूठी सुन्दरी देखकर, वह उसे ललित-कलाओं में शिक्षा देने के लिए गणदास के सिपुर्द कर देती है। चाहे वह उसके दासी-वर्ग में सम्मिलित है, तब भी वह उसे अच्छी तरह रखती है। मालविका को अशोक-दोहद की पूर्ति के कार्य पर लगाना, उसका महान् सत्कार करना है। इरावती इसकी ईर्ष्या करती है। (महती खल्वस्याः सम्भावना। ३. १२–१३)

जब रानी धारिणी को विदित हो जाता है कि मालविका उच्च-वंश की कन्या है तब वह उससे किए गए व्यवहार के लिए पश्चात्ताप करती है। (चन्दनं खलु मया पादुका-परिभोगेन दूषितम्। ५. ६–१०) और उसका हाथ अग्निमित्र को पकड़ा देती है। किन्तु ऐसा करने में भी वह इरावती से परामर्श लेती है। इससे प्रकट होता है कि वह इरावती का बड़ा सम्मान करती है। धारिणी धार्मिक विचारों की स्त्री है। वह योग्य ब्राह्मणों में दक्षिणा बांटने से सिद्धि मिलने पर विश्वास रखती है।

वह परिव्राजिका और अधीन जनों के लिए विनीत भाव रखती है। डा० कीथ के मतानुसार 'सब से अधिक कार्य साधक चरित्र-चित्रण तो धारिणी और इरावती दोनों रानियों के लिए स्वरक्षित है; क्रोध का उपयुक्त कारण होने पर भी पहली की शोभा और प्रतिष्ठा तथा अन्ततः उदारता का मुकाबला दिखाया गया है दूसरी की उत्कट प्रचण्डता से जिस कारण वह सदैव छिप-छिप कर बातें सुनती है और अपनी पदवी तथा अधिकारों को भुलाकर राजा के विरुद्ध विद्रोह करने लगती है।"

इरावती

इरावती राजा अग्निमित्र की दूसरी रानी है। वह आयु में छोटी और सुशिक्षिता युवती है। राज-भवन में मालविका के आने से पहले राजा पर उसका पूरा-पूरा अधिकार था, राजा भी उसको बहुत मानता था। (कैरा परिवृत्तवदनेन भर्त्रा स्निग्धया दृष्ट्या निध्यायते।....**अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वं देवीजनमुज्झित्वैकस्या मुखे बद्धलक्षः।** ४. ८-९) वह मालविका पर डाह करने लगती है, जब उसे विदित हो जाता है कि राजा का प्रेम उस पर चला गया है। जब वह उन दोनों को इकट्ठे पाती है, तब उसके क्रोध से उसके नेत्र लाल हो जाते हैं। राजा उसे सब बात समझाना चाहता है परन्तु वह परवाह नहीं करती। वह उसे बुरा-भला कहती है: **शठ! अविश्वसनीयहृदयोऽसि।** (३.१९-२०) राजा उसे शान्त करना चाहता है किन्तु वह अपनी गिर रही तागड़ी उठा कर उससे राजा को मारने को तैयार हो जाती है। राजा उसके सामने झुक जाता है किन्तु वह आग-बबूला हुई चली ही जाती है। इस प्रकार के व्यवहार का कारण उसकी मदमस्ती में पाया जा सकता है। (३. १२-१३) स्वस्थ होने पर वह अपने दुर्व्यवहार पर पश्चात्ताप करती है। (**चित्रगतमार्यपुत्रं प्रसादयितुं च।** ४. १४-१५) स्वभाव से ही वह सन्देहशीला है। जब वह राजा को अशोक के नीचे खड़ी मालविका के पास आता देखती है, तब वह कहती है: **एतत् प्रथमं मम चिन्तितं हृदयेन** (३. १७-१८)। राजा भी उसके इस स्वभाव से भली प्रकार परिचित है। "**निसर्ग-निपुणाः स्त्रियः** (३. २-३) का कथन उस पर पूरा घटता है। जब रानी इरावती मालविका और बकुलावलिका को बन्दीगृह से बाहर देखती है, तब वह इसमें धारिणी का हाथ समझती है। (४. १७-१८) नवयुवती होने के कारण क्रोध तो उसे सीढ़ी लगाकर चढ़ता है। (**अहो दौर्वरीवता तत्रभवत्याः।**

४. १२) वह नाटक में दो बार रंग-मंच पर प्रकट होती है, और दोनों बार ही वह अपना गरम मिज़ाज तथा डाह का स्वभाव दिखाती है। बड़ी रानी धारिणी भी उसकी अप्रसन्नता से घबड़ाती है। उसकी इच्छानुसार वह मालविका और बकुलावलिका को बन्दीगृह में डाल देती है (४. १४-१५)। नाटक के कथानक की समाप्ति पर रानी धारिणी, जब राजा को मालविका भेंट करने लगती है, तब भी वह इरावती की सलाह लेना भूल नहीं जाती। किन्तु परिस्थिति ही ऐसी होती है कि वह न नहीं कर सकती। उसे विवाह-सम्बन्ध में स्वीकृति देनी ही पड़ती है। वह ऐसे अवसर पर स्वयं उपस्थित होकर हार्दिक बधाई नहीं देती। (५. १९-२०) रानी धारिणी के साथ इसका भेद-भाव खूब तेज़ हो जाता है। (डा० कीथ: भूमिका पृष्ठ २७)

गौतम

इस नाटक में विदूषक का नाम गौतम है। वह कथा-वस्तु के विकास में बड़े महत्त्व का काम करता है। वह "नाटक में आवश्यक अंग है, और वह राजा के विदूषक की अपेक्षा उसके मित्र तथा विश्वस्त-पात्र का कार्य अधिक करता है; उसकी युक्तिपूर्ण सहायता के बिना अग्निमित्र को वृथा ही प्रेम-पीड़ा में घुलना पड़ता। (संस्कृत ड्रामा : डा० कीथ पृष्ठ १५६) यह उसके ही उर्वरा मस्तिष्क की उपज है कि वह सदा अपने मित्र राजा अग्निमित्र की सहायता के लिए नए से नए उपाय ढूँढ निकालता है। नाटक के आरम्भ के शब्द "**आज्ञप्तोऽस्मि तत्रभवता राज्ञा** (१. ८-९) उसके चरित्र का आभास दे देते हैं। उसी ने गणदास और हरदत्त के बीच कलह का बीज बोया है। यह उसके चतुर और समुचित शब्द हैं जो गणदास को उपदेश-प्रदर्शन के लिए उकसाते हैं। वह उपदेश-प्रदर्शन में भी मालविका को रंग-मंच पर अधिक समय रखने का प्रयत्न करता है। (२. ५-६) वह बकुलावलिका को अपने साथ मिला लेता है। उसी के द्वारा वह अग्निमित्र और मालविका का एकान्त-मिलन करवाता है। (४. १२-१३) जब मालविका और बकुलावलिका को रानी धारिणी बन्दीगृह में डलवा देती है, तब गौतम की ही चतुराई उनके मुक्त करवाने में काम आती है। वह सांप द्वारा डसे जाने का अभिनय करता है और इसके इलाज के लिए रानी धारिणी से सर्पमुद्रा ले ली जाती है और मालविका तथा बकुलावलिका को छुड़ा दिया जाता है। वह मानस-शास्त्र में खूब अभ्यस्त है।

सब बातें उसके अनुमान के अनुसार घटती हैं। उसकी निपुणता मानी हुई बात है। राजा उसे राज-काज से भिन्न कार्यों का मन्त्री समझता है : अयमपरः कार्यान्तर-सचिवः। (१.८-६) और उसके वचनों का पूरा विश्वास रखता है। (प्रतिगृहीतं वचःसिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य। (३. १२-१३) गौतम संस्कृत नाटक में अद्वितीय है। उसके बिना यह नाटक असम्भव है। वह इतना अपरित्याज्य प्रतीत होता है कि प्रत्येक अंक में वह उपस्थित होता है। दूसरे विदूषकों के समान वह भी पेटू अथवा आलसी के दोष से मुक्त नहीं है। हम उसे खाने की और (पानभोजनं स्वरय। २. १२-१३). तथा पीने की ओर संकेत करते पाते हैं। (शीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिका ३. ५-६)। उसके सोने से समुद्रगृह में मालविका और अग्निमित्र का मिलन-दृश्य प्रायः बिगड़-सा जाता है। (३. १२-१) दूसरे विदूषकों की तरह वह भी सर्प-भीरु है (भुजंगभीरुकं ४. १५-१६)। विदूषक प्रायः मन्दबुद्धि होता है किन्तु गौतम सर्वथा अद्वितीय है। वह अपने अल्प-मति कहता है : तेन हि पण्डित-परितोषप्रत्यया ननु मूढा जातिः। (२. १०-११); पुनर्मन्दस्यापि मे तस्मिन् प्रत्युत्पन्ना मतिः (४. ५-६)। किन्तु वह सत्यमेव इस दोष से बहुत दूर है। वह अपना काम रसिकोक्तियों द्वारा कर लेता है और उसके चतुर वचन भाषा की लोकोक्तियाँ बन गए हैं।

राजा के प्रति विदूषक के प्रेम का परिणाम होता है रानी धारिणी और इरावती को उसके लिए घृणा। धारिणी तो उसे नारद कहती है। (ननु कलहप्रियोऽसि। १. १५-१६) और उसके प्रति तुच्छ विचार रखती है : ननु गौतमवचन-मप्यार्यः हृदये करोति (२. ६-७)। विदूषक भी जानता है कि रानी मुझे अच्छा नहीं समझती। जब सांप द्वारा डसे गये का वह अभिनय करता है, तब वह रानी से कहता है : भवति जीवेयं वा न वा यन्मयाऽत्रभवन्तं सेवमानेन तेऽपराद्धं तन्मर्षय (४. ४-५)। इरावती तो विदूषक को अपमानपूर्ण दृष्टि से देखती है। वह उसे ब्रह्मबन्धु कहती है : कथं खलु ब्रह्मबन्धुरन्यथा जीवि-ष्यति। (३. १७-८), सत्यमयमत्र ब्रह्मबन्धुना कृतः प्रयोगः। इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः। (४. १७-१८) इन दोनों को छोड़ कर और सब उसे आदर की दृष्टि से देखते हैं। उसे "आर्य गौतम" करके पुकारा जाता है। गणदास उसकी बुद्धि की प्रशंसा करता है : दैवप्रत्ययात् सम्भाव्यते सूक्ष्मदर्शिता

गौतमस्य (२. ६·७) विदूषक ज्योतिष के कुछ सत्यों से परिचित है। वह कहता है : **यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति** (३. २२–२३)। गौतम न केवल रूप वरन् कला–कौशल का भी पारखी है। वह मालविका के विषय में कहता है : **न केवलं रूपे, शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका** (२. १२-१३)।

कौशिकी

कौशिकी मालविका के भाई माधवसेन की बहन है। जीवन की क्रूर घटनाओं का उस पर भारी प्रभाव पड़ा है। वह विधवा है, और डाकुओं के साथ मुठभेड़ में जब उसका भाई माधवसेन मारा जाता है, वह बड़े समचित्त द्वारा अपना भावी क्रम निर्धारित कर लेती है जो कि अवसर के अनुसार सर्वोत्तम है। वह बौद्ध संन्यासिनी बन जाती है और रानी धारिणी के साथ रहने लगती है। क्योंकि वहां उसे खोई हुई मालविका दिखाई दे जाती है। वह अपना परिचय किसी को नहीं देती, और इसका कारण वह नाटक के अन्त में बताती है। वह अपनी विद्वत्ता के कारण **'पण्डित-कौशिकी'** कहलाती है (१. १२-१३; १. १३-१४; ५. ३-४) वह नृत्य-कला पर प्रमाण है, जैसा कि उसके टिप्पण से विदित होता है: देव ! **चतुष्पदोद्भवं चलितं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति। तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः।** (१. १९-२०); **अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः** (२.८) वह साँप के डसे का इलाज जानती है (४. ४)। वह शृंगार-कला में सिद्धहस्त है: **भगवति ! यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि, तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे वैदर्भं विवाहनेपथ्यम्** (५. ३-४)। कोरे सिद्धान्त वाले तथा अभ्यस्त शिक्षक का अन्तर उसने बहुत ही ठीक दिखाया है (शिष्टा क्रिया० १.१६)। उसे धारिणी की सहायक कहा गया है (पीठमर्दिका १. १३-१४)। परन्तु वास्तव में वह मालविका के भविष्य के उदय के लिए प्रयत्नशील है। नहीं तो वैसे वह रानी धारिणी को आश्वासन देती है और उसका मनोविनोद करती है। जब रानी धारिणी का पैर दुख रहा है तब परिव्राजिका ही उसकी सेवा-शुश्रूषा कर रही दिखाई देती है : **प्रवातशयने देवी...भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति** (४. २-३)। मालविका को रानी बनाने के लिए वह गौतम के साथ षड्यन्त्र में मिल जाती है। मालविका उसे पहले ही पहचान लेती है : **नन्वेषा** (५. ९·१०), किन्तु वह उसका परिचय पहले किसी को भी नहीं देती। कौशिकी का ज्योतिष-विद्या में

दृढ़ विश्वास है। इसी लिए वह सिद्ध-पुरुष के वचनानुसार मालविका के एक वर्ष पर्यन्त दासी भाव से रहने में वह कुछ बुरा नहीं मानती। जब रानी धारिणी मालविका को राजा की भेंट कर देती है, तब कौशिकी हर्ष-गद्गद हो जाती है और अपना मनोरथ पूरा हुआ समझ कर अपने भाई माधवसेन के पास चली जाना चाहती है। परन्तु उसके पास हृदय-ग्राही गुण उसकी प्रार्थना के स्वीकृत होने में बाधा डालते हैं। उसे विदिशा में पूर्ववत् रहने के लिए प्रार्थना की जाती है।

बकुलावलिका

बकुलावलिका रानी धारिणी की दासी है। वह मालविका के पक्ष में कर ली गई जान पड़ती है। वह कदाचित् उसके गुणों से खिंच जाती है और समझती है कि वह रानी इरावती से बढ़-चढ़ जायगी। (**अतिक्रामन्तीमिवेरावतीं पश्यामि । १. ५-६**) वह गौतम को राजा का मनोरथ सिद्ध करने में काफ़ी सहायता देती है। वह मालविका को अपनी दूसरी देह समझती है। (**अयि शरीरमसि मे । ३. ११-१२**) मालविका भी उसे अपनी हित-चिन्तक समझती है। वह उसे राजा के प्रति प्रेम की चर्चा करना चाहती है, परन्तु साहस नहीं पड़ता। (**कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्य मे वृत्तान्तमाख्यातुम् । ३.५-३**) किन्तु बकुलावलिका बड़ी चतुर है, वह दूतीपने में निपुण है। वह उससे ऐसे शब्द निकलवा लेती है, जो उसके राजा के प्रति प्रेम को प्रकट कर देते हैं। उसकी यह चतुराई राजा से भी बहुत प्रशंसा पाती है। राजा कहता है: **स्थाने प्रायाः कामिनां दूत्यधीनाः । (३. १४)** रानी इरावती भी समझती है कि बकुलावलिका अपने दूतीपने में पूरी उतरी है : **दिष्टया दूत्यधिकारविषया सम्पूर्णा ते प्रतिज्ञा ।** (४. १५-१६) वह अपने कार्य के पूरा करने में विघ्न-बाधाओं से घबड़ाती नहीं। वह मालविका के साथ बन्दी जीवन भोगती है परन्तु उसका साथ नहीं छोड़ती। ज्योंही वह बन्दीगृह से मुक्त होती है त्योंही वह राजा अग्निमित्र और मालविका का एकान्त मिलन कराने में व्यग्र हो जाती है। वास्तव में उसने तो मालविका को वचन दे रखा था कि वह संकट के समय उसकी एकमात्र सहायक होगी। (**मालविका—त्वं तावद् दुर्जातेऽस्यन्तं सहाया भव। बकुलावलिका—विमर्दसुरभिर्बकुलावलिका खल्वहम् । ३. १३-१४**) वह अपना वचन पूरा निभाती है।

नाटक की समालोचना

मालविकाग्निमित्र कालिदास के नाटकों में सब से छोटा और आरम्भ की रचना है। नाटक की कथा साधारण प्रेम-गाथा है, इसी कारण इसका विक्रमोर्वशी तथा शकुन्तला से भेद है। मालविकाग्निमित्र में नाटककार कथा के सीमित स्थानों से बाधित है। सभी दृश्य विदिशा में हैं—राजभवन और राज-उद्यानों में। उद्यान जैसे स्थानों में कालिदास के कवित्व ने ऊँची उड़ान ली है। (देखो, ३, ४–५) विक्रमोर्वशी में हम पूरा एक अंक (चौथा अंक, प्रवेशक को छोड़कर) पाते हैं, जिसमें प्रकृति-वर्णन है। यहां नाटककार को कोई बन्धन नहीं। पर्वतों और नदियों में तथा वन और घाटियों जैसे स्थानों में उसे अपनी पूरी शक्ति दिखाने का अवसर मिलता है। यही बात शकुन्तला के चौथे अंक में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मालविकाग्निमित्र का वातावरण उसके दूसरे दो नाटकों से सर्वथा भिन्न है। एक अन्तर और भी है। मालविकाग्निमित्र नाटक में नाटककार अप्रौढ़ है और शकुन्तला में प्रौढ़। अतः दोनों में विशेष अन्तर होना आवश्यक है।

मालविकाग्निमित्र का गुण-दोष-निरूपण

डा० कीथ ने इस आक्षेप का कि नाटक की कथा साधारण प्रेम-गाथा है इस प्रकार उत्तर दिया है: "वस्तु कालिदास के समय में तो कम साधारण होगी, क्योंकि बाद में प्रत्येक नाटिका एक-सी वस्तु पर आश्रित होने लगी।" जो कुछ भी वस्तु है, डा० कीथ का कहना है कि कालिदास ने "घटनाओं के मिश्रण के ढंग में कुछ कौशल दिखाया है।" डा० कीथ ने कालिदास के नाटकों में एक भारी दोष पाया है। उनका कहना है कि "यह अन्याय होगा यदि वह बात भुला दी जाय कि इसके नाटक, इसके काव्यों की तरह, जीवन तथा भाग्य के भारी प्रश्नों में कोई अनुराग नहीं दिखाते...वह क्योंकि निश्चित था कि सबका नियन्त्रण समुचित भाग्य द्वारा, जिसे कि पुरुष अपने कर्मों द्वारा अपने लिए बनाता है, होता है, अतः वह संसार के दुःखदायी दृश्य, अधिकांश पुरुषों के दुर्भाग्य के प्रति सहानुभूति अनुभव करने में असमर्थ है। उसके लिए संकुचित घेरे से बाहर जाना असम्भव था; हम उसके प्रति बल्कि कृतज्ञ हों कि उसने सीमित होने पर भी, एक ऐसी रचना रची है जो कि शकुन्तला की तरह चिरस्थायी गुण और विश्व-व्यापी चित्ताकर्षण वाली है।"

डा० कीथ की सम्मति

पात्र

पुरुष

सूत्रधार—रंग-मंच का प्रबन्धकर्ता
पारिपार्श्विक—सूत्रधार का सहायक
राजा (अग्निमित्र)—नायक, विदिशा-नरेश
विदूषक (गौतम)—ब्राह्मण; राजा का परम मित्र और हास्य-प्रिय पात्र
अमात्य (वाहतक)—अग्निमित्र का प्रधान-मन्त्री
हरदत्त (आचार्य)—राजसभा में राजा की ओर से नियुक्त नाट्याचार्य
गणदास (आचार्य)—राजसभा में दूसरा नाट्याचार्य, जिसे रानी ने नियुक्त कर रखा था
कञ्चुकी (मौद्गल्य)—कञ्चुकी
सारसक—रानी धारिणी का सेवक
वैतालिकौ—राजसभा के दो भाट

स्त्री

मालविका—नायिका, माधवसेन की बहन
धारिणी (देवी)—राजा अग्निमित्र की पटरानी
इरावती—राजा अग्निमित्र की दूसरी रानी
परिव्राजिका (कौशिकी)—धारिणी के साथ रहने वाली एक तपस्विनी
प्रतिहारी (जयसेना)—राजप्रसाद की द्वार-पालन
बकुलावलिका—रानी धारिणी की दासी और मालविका की सखी
कौमुदिका, नागरिका—धारिणी की दो दासियाँ
निपुणिका—रानी इरावती की दासी
समाहितिका—परिव्राजिका की दासी
उद्यानपालिका (मधुकरिका)—प्रमदवन की मलिन
ज्योत्स्निका, मदनिका—यज्ञसेन की राजसभा द्वारा भेजी गई दो कला-निपुण कन्यायें; वास्तव में वे पहले माधवसेन की नौकरानियाँ थीं।

अनेक पुरुष और स्त्री दास-दासियाँ

संकेतित पुरुष

यज्ञसेन--विदर्भराज

माधवसेन--यज्ञसेन का चचेरा भाई और मालविका का भाई

सुमति--माधवसेन का भाई

सेनापति पुष्यमित्र--राजा अग्निमित्र का पिता

वसुमित्र--राजा अग्निमित्र और धारिणी का पुत्र

वीरसेन--राजा अग्निमित्र का साला, रानी धारिणी का भाई

मौर्यसचिव--यज्ञसेन का साला

ध्रुवसिद्धि--राजवैद्य, विष-चिकित्सक

वसुलक्ष्मी--राजा-प्रसाद में एक राजकुमारी

माधविका--दासी, पाताल-लोक में बन्दीगृह की रखवालिन

चन्द्रिका--दासी

स्थान

विदिशा तथा समीपवर्ती उद्यान-प्रदेश

प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणत-बहु-फले यः स्वयं कृत्ति-वासाः
कान्ता-संमिश्र-देहोऽप्यविषय-मनसां यः परस्ताद् यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥ १ ॥

अन्वयः—सः ईशः सन्मार्गालोकनाय वः तामसीं वृत्तिं व्यपनयतु, यः प्रणत-बहु-फले एकैश्वर्ये स्वयं कृत्ति-वासाः, यः कान्ता-संमिश्र-देहः अपि अविषय-मनसां यतीनां परस्तात् [भवति], अष्टाभिः तनुभिः कृत्स्नं जगत् बिभ्रतः अपि यस्य अभिमानः न [भवति]।

शब्दार्थ—सन्मार्ग—श्रेष्ठ मार्ग. तामसी वृत्तिः—तामसिक (अज्ञान-मय) प्रवृत्ति. व्यपनयतु—दूर करे. प्रणत-बहु-फल—भक्त-जन के लिए बहुत फल देने वाला. एकैश्वर्य—एक-मात्र अधिपति. कृत्ति-वासाः—(गज) चर्म-धारी. कान्ता-संमिश्र-देह—स्त्री के शरीर से युक्त देह वाला, अर्ध-नारीश्वर. अविषय-मनसाम्—विषय-भोगों से रहित मन वालों का. परस्तात्—श्रेष्ठ, प्रधान. यति—योगी. तनु—रूप. कृत्स्न —समस्त. बिभ्रतः—धारण करते हुए.

टिप्पणी—संस्कृत-ग्रन्थों के रचयिता आशीर्वाद (मंगलाचरण) से अपना ग्रन्थ आरम्भ करते हैं। इसके द्वारा वे ग्रन्थ के पूरा होने में जो विघ्न-बाधाएँ हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं। इस मंगलाचरण के पद्य को प्रायः 'नान्दी' कहा जाता है। विश्वनाथ के मतानुसार ये मंगलाचरण के पद्य 'रङ्ग-द्वार' कहे गये हैं, जो पूर्वाङ्ग का भाग है। नाटक 'नान्दी' से आरम्भ न होकर 'रङ्गद्वार' से आरम्भ होता है। उसका कहना है कि पूर्व-रङ्ग से पहले 'नान्दी' तो नटों द्वारा ही पूरी की जाती है। इसी के कथनानुसार 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' रङ्गमंच का संकेत कई प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों में मंगलाचरण से पहले पाया जाता है।

एकैश्वर्ये—ईशितुं शीलमस्य इति ईश्वरः, ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम्,

ईश्वर + य (ष्यञ्), एकं (अद्वितीयम् , अविभक्तं वा) च तत् ऐश्वर्यं च (कर्म०), तस्मिन् । ऐश्वर्य आठ सिद्धियों (अथवा विभूतियों) पर आश्रित है:—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्रकाम्यमीशत्वं वशित्वं चाष्ट-भूतयः ॥

स्थितः—√स्था + क्त, यहां क्त कर्तृवाच्य है क्योंकि √स्था अकर्मक है। प्रणत-बहु-फले—बहूनि फलानि यस्मात् तत् बहुफलम् (बहु०), प्रणतानां बहुफलम् (तत्पु०), तस्मिन्. कृत्ति-वासाः—कृत्तिः वासः यस्य सः (बहु०), 'कृत्तिः' शब्द का अर्थ मृग अथवा व्याघ्र की त्वचा है (जिसे तपस्वी लोग पहनते हैं) । इस शब्द द्वारा गज दैत्य (महिषासुर के पुत्र) की ओर संकेत है, क्योंकि शिवजी ने उसे मारा था । इस गज दैत्य की प्रार्थना पर ही शिवजी उसकी त्वचा को नित्य पहने रहने लगे और 'कृत्तिवासाः' कहलाए । (काशी-खंड) कान्ता-संमिश्र-देहः—कान्तया संमिश्रः कान्तासंमिश्रः (तत्पु०), कान्तासंमिश्रः देहः यस्यः सः (बहु०), यहां संकेत शिव के अर्धनारीश्वर होने की ओर है । (पार्वती शिव के शरीर का आधा भाग है) । अविषय-मनसाम्—अविद्यमानाः विषयाः येषां तानि अविषयाणि (बहु०), तानि मनांसि येषां ते अविषय-मनसः, तेषाम् । अष्टाभिः तनुभिः—शिव के आठ रूप हैं: पृथवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पंच-तत्व तथा सूर्य, चन्द्रमा और होता (देखो शकुं० १.१) । बिभ्रतः—√भृ ३ उ० + शतृ, इस शब्द के अंत में न् (गच्छन् , वदन् इत्यादि की तरह) नहीं है क्योंकि धातु को द्वित्व हो चुका है (नाभ्यस्ताच्छतुः पा० ७. १. ७८) ।

सन्मार्गालोकनाय—सन् चासौ मार्गश्च सन्मार्गः (कर्म०), अथवा सतां मार्गः सन्मार्गः (तत्पु०), तस्य आलोकनम् (तत्पु०), तस्मै; मार्ग एक नाटक का नाम भी है । अतः इस समास से यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि जो बढ़िया नाटक खेला जा रहा है, उसके देखने के लिए ।

व्यपनयतु—लोट् उत्तम० एक०, वि+अप+√नी; √नी का अर्थ है 'ले जाना' किन्तु वि+अप+√नी अथवा अप+√नी का अर्थ होता है 'हटाना' । उपसर्ग के परिवर्तन के कारण धातु का अर्थ बदलता रहता है, जैसे—

(नान्द्यन्ते)*

सूत्रधारः— (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष ! इतस्तावत् †

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहार-वत् ।।

वः—युष्मद् की षष्ठी का बहु०; संस्कृत नाटकों के मंगलाचरण के पद्यों में यह शब्द द्वितीया के रूप में प्रायः मिलता है ।

तामसीम्—तमसः इयं तामसी, ताम्, तमस्+अ (अण्; प्राग्दीव्यतोऽण् पा० ४. ३. १२६; तस्येदम् पा० ४. १. ८३)+ई (ङीप्). ईशः—ईष्ट इति; ईश्+क । [स्रग्धरा वृत्त]

हिन्दी—वह शिव—जो सारे संसार का एक-मात्र अधिपति होने पर भी स्वयं (गज-) चर्मधारी है, तथा जो अपने भक्तों को बहुत फल देने वाला है, जो अपनी स्त्री के शरीर से मिला रहने पर भी विषय-वासनाओं से रहित योगियों में प्रधान है, और आठ (अग्नि आदि) रूपों से सारे संसार को धारण करते हुए भी अभिमान-रहित है—श्रेष्ठ मार्ग के दिखाने के लिए तुम्हारी अन्धकारमय (अज्ञानमय) प्रवृत्ति को दूर करे । [१]

*नान्दी—नाटक में आरम्भ का मंगलाचरण वाला पद्य.

(नान्दी के पश्चात्)

†सूत्रधार—रंगमंच का प्रबन्ध-कर्ता. मारिष-नट.

नेपथ्य—अन्तिम परदे के पीछे का स्थान, जहां नट लोग वेश-भूषा बनाते हैं और रंगमंच पर आने तक ठहरते हैं ।

कुशीलव-कुटुम्बस्य स्थानं यदति-शोभनम् ।
वर्णिका-ग्रहण-स्थानं नेपथ्यमिति तद् विदुः ।।

नेपथ्य के अर्थ हैं:—'वेश', 'सजावट' अथवा 'परदा'; देखो, विरल-नेपथ्ययोः (अङ्क १ श्लोक २० से पहले), विवाह-नेपथ्यम् (अङ्क ५ श्लोक ३ और ६ के बाद), नेपथ्य-परिगतायाः (अङ्क २. १) ।

मारिष—सूत्रधार अपने सहायक अर्थात् पारिपार्श्विकों को इस सम्बोधन से बुलाता है:—

(प्रविश्य)

पारिपार्श्विकः—भाव ! अयमस्मि ।*

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदास-ग्रथित-वस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तदारभ्यतां संगीतम् ।†

'सूत्रधारो मारिषेति' (सा० द० ६. १४८)

सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देखकर) नट ! इधर तो आओ ।

पारिपार्श्विकः—पारिपार्श्वं यथा तथा वर्तते (परिमुखं च पा० ४. ४. २६), 'जो सूत्रधार के पास रहे, यह सूत्रधार का सहायक होता है और सूत्रधार को 'भाव' द्वारा सम्बोधन करता है ।

सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः ॥ (सा० द० ६. १४७)

(प्रवेश करके)

*भाव—श्रीमन् .

नट—श्रीमन् ! मैं उपस्थित हूँ ।

†परिषत्—समाज. वस्तु—कथा. प्रयोक्तव्य—खेला जाना चाहिए.

अभिहितः—अभि + √धा ३ उ० 'कहना' + क्त (दधातेर्हिः पा० ७. ४. ४२). विद्वत्परिषदा—परितः सीदन्ति अस्यामिति परिषत्; 'वह स्थान जहां लोग चारों तरफ बैठते हैं', अर्थात 'सभागृह' 'सभा', तया । इसका यौगिक अर्थ होगा 'दर्शकजन', 'श्रोतागण'; विदुषां परिषद् विद्वत्परिषद् (तत्पु०) अथवा विदुषी च सा परिषत् विद्वत्परिषत् (कर्म०), तया; 'विद्वत् समाज द्वारा' । कालिदास-ग्रथित-वस्तु—कालिदासेन ग्रथितं वस्तु यस्मिन् तत् (मध्यमपदलोपि बहुव्रीहि), 'जिसकी कहानी कालिदास द्वारा रची गई है'। यह मालविकाग्निमित्रम् का विशेषण है। वस्तु—कथा; इसका अर्थ 'पदार्थ', 'चीज़' भी होता है। (देखो, अनूनवस्तुकाम् अंक १ श्लोक से ६ पहले) विषय (देखो अभिनय-वस्तुनि अंक १ श्लोक १६ के बाद) और पद (चतुर्थ-वस्तुनः अङ्क २ श्लोक १ से पहले)।

मालविकाग्निमित्रम् - यह नाटक का नाम है; मालविका च अग्निमित्रश्च मालविकाग्निमित्रौ ...चारात् मालविकाग्नि-मित्रम् । यहां प्रत्यय छ (=ईय) शिशुक्रन्द० (पा० ४. ३. ८८) के अनुसार

पारिपार्श्विकः—मा तावत्। प्रथित-यशसां भास-सौमिल्लक-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमान-कवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः।*

लिया जाना चाहिए किन्तु अभेदोपचारात् (अर्थात् ग्रन्थ को उसके नायक और नायिका के रूप में लेने के नियम) द्वारा यह समास नायक-नायिका द्वन्द्व के बदले उस ग्रन्थ में भी लागू होता है जिसमें उनका वर्णन हो। छ प्रत्यय लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम् (वा० ४.३. ८७) के अनुसार हटाया नहीं जा सकता, क्योंकि मालविकाग्निमित्र नाटक है, न कि आख्यायिका। नाम—अव्यय, नाम. नाटक—रूपक का एक खास भेद है; इसके दस भेद हैं:—

नाटकमथ प्रकरणं भाण-व्यायोग-समवकार-डिमाः।
ईहा-मृगाङ्क-वीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥

वसन्तोत्सवे—वसन्ते उत्सवः (तत्पु०); फाल्गुण के महीने में पूर्णिमा के दिन वसन्त ऋतु के स्वागत के लिए यह उत्सव मनाया जाता था। आजकल की होली इसी का रूप है। प्राचीन भारत में उत्सवों पर नाटकों का अभिनय किया जाता था। इसी लिए संस्कृत में प्रायः सभी नाटक सुखान्त हैं। प्रियदर्शिका, रत्नावली, मालती-माधव, महावीर-चरित, उत्तर-रामचरित नाटकों के आरम्भ के दृश्यों से भी यही विदित होता है। संगीतम्—इसमें तीन चीज़ें होती हैं:—(१) नृत्य (२, ३) वीणा इत्यादि यन्त्रों सहित गाना।

सूत्रधार—मुझे विद्वत्समाज ने आदेश दिया है कि कालिदास द्वारा रची कहानी वाला मालविकाग्निमित्र नाम का नाटक इस वसन्त-उत्सव पर खेला जाय। अतः संगीत आरम्भ करो।

*प्रथित-प्रसिद्ध-प्रबन्ध—नाटकीय रचना. क्रिया—साहित्यिक रचना.

प्रथित-यशसाम्—प्रथितं यशः येषां ते (बहु०), तेषाम्. भास-सौमिल्लक-कविपुत्रादीनाम्—भासश्च सौमिल्लकश्च कविपुत्रौ च (द्वन्द्व०), तेषाम्; इन शब्दों से स्पष्ट है कि इन नाटककारों का कालिदास के समय कितना मान था। भास के समय के विषय में विद्वानों का मत-भेद है। बाण और राजशेखर ने भी भास की भूरि प्रशंसा की है:—

सूत्रधारः—अयि, विवेक-विश्रान्तमभिहितम् । पश्य,*

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥ (बाण)
भास-नाटक-चक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥ (राजशेखर)

गणपति शास्त्री महोदय ने दक्षिण त्रावणकोर में १३ नाटक ढूँढ़ निकाले थे जो कि भास-कृत कहे जाते हैं :—१. स्वप्न-वासवदत्त, २. प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, ३. बाल-चरित, ४. अभिषेक, ५. पंचरात्र, ६. मध्यम-व्यायोग, ७. दूत-वाक्य, ८. चारुदत्त, ९. प्रतिमा, १०. अविमारक, ११. दूत-घटोत्कच; १२. कर्णभार और १३. ऊरुभंग। अन्य नाटककारों के सम्बन्ध में हमें कुछ भी विदित नहीं । राजशेखर ने रामिल-सोमिल का शूद्रक-कथा के सम्बन्ध में उल्लेख किया है (तौ शूद्रक-कथाकारौ रम्यौ रामिल-सोमिलौ ।) । कविपुत्र—सुभाषितावली में उद्धृत पद्य के साथ लिखा है कि यह एक नहीं बल्कि दो कवियों का नाम है। (देखो, "भ्रू चातुर्य" इत्यादि) रामिल और सोमिल तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में हुए, ऐसा कहा जाता है । प्रबन्धान्—बध्यते (काव्य-वस्तु) अस्मिन् असौ बन्धः; प्रकृष्टः बन्धः (कर्म०); 'एक उत्कृष्ट रचना' । क्रियायाम्—क्रिया यहाँ कृति के अर्थ में है । अन्यत्र इसका अर्थ 'अभिनय' भी है ।

पारिपार्श्विक—न, न; भास, सौमिल्लक और कविपुत्र आदि विख्यात यशस्वी नाटककारों की रचनाओं को छोड़कर नये कवि कालिदास की रचना के प्रति विद्वत्समाज का कैसे अधिक मान हो सकता है ?

*अयि—ओह ! प्रिय ! विवेक-विश्रान्त—बिना सोचे समझे, विचार-शून्य.

अयि—ओह ! प्रिय ! यह प्रेम-पूर्वक सम्बोधन का शब्द है । विवेक-विश्रान्तम्—विश्रान्तः (उत्सन्नः) विवेको यस्मिन् तत् (बहु०) अथवा विवेके (विवेक-विषये) विश्रान्तं (दुर्बलम्) (तत्पु०) अथवा विवेके विश्रान्तम् तद्यथा भवति तथा (अव्ययी०).

सूत्रधार—ओह ! आपने बिना सोच-विचार किये कह डाला । देखो,

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः ॥ २ ॥

पारिपार्श्विकः—आर्यमिश्राः प्रमाणम् ।*

अन्वयः—सर्वं काव्यं पुराणम् इति एव साधु न (भवति), नवम् इति च अपि अवद्यं न (भवति), सन्तः परीक्ष्य अन्यतरत् (काव्यं) भजन्ते, मूढः पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः (भवति) ।

श०—अवद्य—दोषयुक्त. अन्यतरत्—दोनों में से एक. पर-प्रत्यय-नेय—दूसरे के विश्वास पर चलने वाली. सत्—सज्जन, विद्वान् .

टि०—पुराणम्—पुरा भवम् 'पहले प्रकट हुआ' वा पुरा नवम् 'जो पहले नया था अब नहीं', अतः 'प्राचीन'. अवद्यम्—अ (नञ्) +√वद्+य (यत्) (देखो, अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु पा० ३. १. १०१; 'वह वस्तु जिसके विषय में कुछ कहना ठीक नहीं', 'निन्दनीय'; यह शब्द प्रारम्भ से ही निषेधात्मक है और इसी का फिर निषेधात्मक रूप बनाया गया है) ; न अवद्यम् इति अनवद्यम् . सन्तः—विद्वान् ; गुण-दोष के पारखी । मूढः—सत का विपरीत, मूर्ख. पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः—परस्य प्रत्ययः परप्रत्ययः (तत्पु०), तेन नेया बुद्धिः यस्य सः (बहु०); प्रत्यय–प्रति + √इ २ पर०+अच् ; सम्मति, धारणा, विश्वास, ज्ञान, निर्णय. नेय—लेजाई जाने वाली, चलने वाली । [उपजाति छन्द]

हिन्दी—सब प्राचीन काव्य उत्तम नहीं, और न ही नया काव्य दोष-युक्त है । विद्वान लोग परीक्षा करके दोनों में से एक को स्वीकार कर लेते हैं; मूर्ख की बुद्धि दूसरों के विश्वास द्वारा चलती है । [२]

*आर्यमिश्र—महोदय.

आर्यमिश्राः—आर्याश्च ते मिश्राः (=पूज्याः) च (कर्म०), 'मान्यवर'; 'मिश्र' आदर-सूचक प्रत्यय है और सदा बहुवचन में प्रयुक्त होता है । प्रमाणम्—प्रभु; इस अर्थ में यह शब्द एक वचन में ही प्रयुक्त होता है । इसके और भी अर्थ हैं, जैसे 'सबूत, साधन, परिमाण, सिद्धान्त.'

पारिपार्श्विक—मान्यवर प्रमाण हैं ।

सूत्रधारः—तेन हि त्वरतां भवान् ।※

शिरसा प्रथम-गृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम् ।
देव्या इव धारिण्याः सेवा-दक्षः परिजनोऽयम् ॥ ३ ॥

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना†

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तम्हि देवीए धारिणीए—अइरप्पउत्तोवदेसं चलिअं णाम णट्टअं अन्तरेण कीरिसी मालविअत्ति णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं । ता दाव संगीतसालं गच्छम्मि । [आज्ञप्तास्मि देव्या धारिण्या--"अचिर-प्रवृत्तोपदेशं

※तेन—यदि ऐसे है...तो, इसलिए, तब (देखो, हेतौ पा० २. ३. २३). त्वरते–त्वर् १ आ० जल्दी करना ।

सूत्रधार—तो आप जल्दी करें ।

अन्वयः--शिरसा प्रथम-गृहीतां परिषदः आज्ञां कर्तुम् इच्छामि, धारिण्याः देव्याः सेवा-दक्षः अयं परिजनः इव ।

श०--प्रथम-गृहीत—पहले से स्वीकृत. दक्ष—चतुर. परिजन—सेवक.

टि०—शिरसा गृहीताम्–'सादर सिर झुका कर स्वीकार की गई' । देव्याः 'पटरानी के'; नाटकों में पटरानी को देवी कह कर पुकारा जाता है । सेवा-दक्षः-सेवायां दक्षः (तत्पु०) । परिजनः—यह शब्द वैसे तो समुदाय-वाचक है, किन्तु यहां पर व्यक्ति-गत रूप में है । [आर्या छन्द]

हिन्दी--मैं सिर झुका कर पहले से स्वीकार की हुई दर्शक-जनों की आज्ञा पूरी करना चाहता हूँ, जैसे सेवा में चतुर यह दासी देवी धारिणी की आज्ञा को पूरा करना चाहती है । [३]

[दोनों का प्रस्थान

†प्रस्तावना–इसमें सूत्रधार का नटी वा पारिपार्श्विक के साथ संवाद रहता है । इसे आमुख भी कहते हैं । भास ने इसका नाम स्थापना रखा है ।

(प्रस्तावना की समाप्ति)

(दासी का प्रवेश)

चलितं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्य-गणदासं प्रष्टुम् । तत्तावत् संगीत-शालां गच्छामि । (इति परिक्रामति)†

(ततः प्रविशत्याभरण-हस्ता द्वितीया चेटी)

प्रथमा—(द्वितीयां दृष्ट्वा) हला कोमुदिए, कुदो दे इयं धीरदा जं समीवेण वि अदिक्कमन्ती इदो दिट्ठिं ण देसि । [सखि कौमुदिके ! कुतस्त इयं धीरता यत्समीपेनाप्यतिक्रामन्तीतो दृष्टिं न ददासि ।]

---

*उपदेश—शिक्षा. चलित—एक प्रकार का नृत्य. अन्तरेण—तत्सम्बन्धी, विषय में. आभरण—आभूषण.

अचिर-प्रवृत्तोपदेशम्—न चिरम् अचिरम् (नञ् तत्पु०), तस्मात् प्रवृत्तः उपदेशः यस्य तत् (बहु०); 'जिसकी शिक्षा अभी आरम्भ की है'। अन्तरेण—अव्यय, यह शब्द द्वितीया विभक्ति के साथ प्रयुक्त होता है। (अन्तरान्तरेण युक्ते पा० २. ३. ४.) हला—प्राकृत में प्रायः नीच स्त्री-पात्र के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। (सा० द० ६. १४४)

दासी—मुझे देवी धारिणी ने नाट्याचार्य श्रीमान् गणदास से यह पूछने का आदेश दिया कि मालविका चलित नाम नृत्य के विषय में, जिसकी शिक्षा अभी-अभी आरम्भ की गई है, कैसी है। तो मैं संगीत-शाला को जाती हूँ।

[घूमती है

(तब हाथ में आभूषण लिए दूसरी दासी का प्रवेश)

† धीरता—गम्भीरता.

धीरता—धीरस्य भावः, धीर+त (तल्)+आ (टाप् ; तलन्तं स्त्रियाम् लिङ्गा० १७); धीर शब्द की दूसरी भाव-वाचक संज्ञा हैं: धीरत्व, धैर्य, धृति जो √धृ १ उ० से बना है, इन्हीं का पर्यायवाची है। 'धीरम्' धीर का अव्यय है। अतिक्रामन्ती—अति+√क्रम् १ उ० का अर्थ होता है: 'पास से निकल जाना, पीछे छोड़ देना, मात कर देना,' अति√+क्रम्+शतृ+ई (ङीप्).

पहली—(दूसरी को देख कर) सखी कौमुदिका ! तुम्हारी यह गम्भीरता कैसी, जो पास से जाती हुई इधर नज़र नहीं डालती हो ?

द्वितीया—अम्हो बउलावलिया ! सहि, इदं देवीए सिप्पिसआसादो आणीदं णाअमुद्दासणाहं अङ्गुलीअअं सिणिद्धं णिज्झाअन्ती तुह उवालम्भे पडिदम्हि। [अहो बकुलावलिका ! सखि ! इदं देव्याः शिल्पि-सकाशादानीतं नाग-मुद्रा-सनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि ।]†

बकुलावलिका—(विलोक्य) ठाणे क्खु सज्जदि दिट्ठी । इमिणा अङ्गुलीअएण उब्भिण्णकिरणकेसरेण कुसुमिदो विअ दे अग्गहत्थो पडिभादि। [स्थाने खलु सज्जति दृष्टिः । अनेनाङ्गुलीयकेनोद्भिन्न-किरण-केसरेण कुसुमित इव तेऽग्र-हस्तः प्रतिभाति ।]‡

---

†शिल्पिन्—कलाकार. नाग-मुद्रा—सांप की छाप वाली अंगूठी. सनाथ—सहित, युक्त, निध्यायन्ती—ध्यान से देखती हुई. अङ्गुलीयक—अंगूठी. स्निग्ध—सप्रेम. उपालम्भ—उलाहना.

अम्हो—यह प्राकृत में सम्बोधन है, इसका अर्थ है अतिशय विस्मय, वा हर्ष अथवा दोनों का एक ही साथ प्रकट होना (जैसे कि इस स्थल में है)। शिल्पिन्—शिल्पमस्यास्तीति, शिल्प+इनि ; कला-निपुण, कलाकार, (यहां सुनार का अर्थ है); शिल्प—नपुं० ललित कला (जैसे कि चित्र-कला, संगीत) अथवा कोई हुनर (जैसे स्वर्णकार का काम)। नाग-मुद्रा-सनाथमङ्गुलीयकम्—नाटक में इस अंगूठी के द्वारा मालविका क़ैद से छुड़ाई जाती है; 'सांप की छाप से युक्त अंगूठी' । निध्यायन्ती–नि+√ध्यै १ पर० + अत् (शतृ)+ई (ङीप् ; उगितश्च पा० ४.१.५); 'ध्यान से देखती हुई', √ध्यै के साथ नि लगने से अर्थ होता है, 'चिन्तन करना,' 'ध्यान लगाना' ।

दूसरी—अहो बकुलावलिका ! सखी ! रानी की सर्प-मुद्रा से युक्त इस अंगूठी को, जो सुनार के पास से लाई हूँ, सप्रेम देखने में संलग्न होने से तुम्हारा उलाहना सुनना पड़ा ।

‡सज्जति—संलग्न है. उद्भिन्न—ऊपर उठ रहे. केसर—रेणु, पराग. कुसुमित—खिला हुआ. अग्र-हस्त—हाथ का अगला भाग.

स्थाने—उपयुक्त पदार्थ पर, यह ठीक ही है। स्थाने सज्जित दृष्टिः—इसके दो

कौमुदिका—हला, कहिं पत्थिदा सि ? [सखि ! कुत्र प्रस्थितासि ?]*

बकुला०—देविए वअणेण णट्टाआरिअं अज्जगणदासं उवदेसग्गहणे कीरसि मालविअत्ति पुच्छिदुं । [देव्या एव वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासमुपदेश-ग्रहणे कीदृशी मालविकेति प्रष्टुम् ।]†

अर्थ निकल सकते हैं—(१) (ते) दृष्टिः (अस्मिन्) सज्जति (इति यत् तत्) स्थाने—कि तुम्हारी दृष्टि इस पर जमी है सो ठीक है; (२) (ते) दृष्टिः स्थाने सज्जति—तुम्हारी आँख उपयुक्त वस्तु पर जमी है। अर्थ में कोई भेद नहीं। खलु—इसके कई अर्थ हैं:--अवश्यमेव, सचमुच, प्रार्थना करता है, मालूम करना, मना करना, कारण, अथवा वाक्य को सजाना। उद्भिन्न-किरण-केसरेण—(अङ्गुलीयकेन का विशेषण) किरणाः केसरा इव किरणकेसराः (उपमित कर्म०; उपमितं व्याघ्रादिभिः० पा० २. १. ५६); उद्भिन्नाः किरण-केसराः यस्य तत् (बहु०), तेन; 'केसर के समान किरण जिसकी ऊपर उठ रही हैं'।

कुसुमित—कुसुम + इत (इतच्; तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् पा० ५. २. ३६), कुसुमस्य सञ्जातम्, असौ. अग्रहस्तः—अग्रश्चासौ हस्तश्च (कर्म० विशेषणं विशेष्येण बहुलम् पा० २. १ ५७) इस समास का यहां समाधान ऐसे हो सकता है कि अग्र (एक भाग; अवयव) को हस्त (संपूर्ण; अवयविन्) के समान मान लिया जाय। दूसरा रूप हस्तस्य अग्रम् (तत्पु०) भी ठीक है। वामन कहता है: हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात् ५. २. २०.

बकुला०—(देख कर) ठीक स्थान पर तुम्हारी नज़र पड़ी है, इस अंगूठी के ऊपर उठ रहे किरण-परागों से तुम्हारे हाथ का अगला भाग (अर्थात् अंगुलियों का भाग) खिल रहा-सा प्रतीत होता है।

*प्रस्थिता--प्र + √स्था १ पर० + त (क्त) + आ (टाप्), यह अर्थ में कर्तृवाच्य है।

कौमुदिका—सखी ! किधर चली हो ?

†उपदेश-ग्रहणे--(विषयसप्तमी) शिक्षा पाने में, उपदेश सीखने में.

बकुला०—रानी के ही आदेश से नाट्याचार्य श्रीमान् गणदास को पूछने जा रही हूँ कि शिक्षा पाने में मालविका कैसी (चल रही) है।

कौमुदिका—सहि, ईरिसेण वावारेण असण्णिहिदा वि दिट्ठा किल सा भट्टिणा। [सखि ! ईदृशेन व्यापारेणासन्निहितापि दृष्टा किल सा भर्त्रा।]*

बकुला०—आम् ! देवीए पास्सगदो सो जणो चित्ते दिट्ठो। [आम ! देव्याः पार्श्व-गतः स जनश्चित्रे दृष्टः।]‡

कौमुदिका—कहं विअ। [कथमिव।]

बकुला०—सुणु। चित्तसालं गदा देवी पच्चग्गवण्णराअं चित्तलेहं आआरिअस्स ओलोअन्ती चिट्ठदि। तस्सिं अन्तरे भट्टा उवट्ठिदो। [श्रृणु। चित्र-शालां गता देवी प्रत्यग्र-वर्ण-रागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति। तस्मिन्नन्तरे भर्तोपस्थितः।]†

---

*व्यापार—कर्त्तव्य. असन्निहिता—जो पास नहीं, आँखों से ओझल.

असन्निहिता—न सन्निहिता (नञ् तत्पु० नञ् पा० २. २. ७; नलोपो नञ् पा० ६. ३. ७३). किल—अव्यय, 'ऐसा कहा जाता है।' इससे निश्चय का बोध होता है और विचार किए काम का भी।

कौमुदिका—सखी ! ऐसे काम में लगे रहने से दूर (श० पास नहीं) होने पर भी उसे राजा ने देख लिया है, ऐसा सुना है।

‡आम्—हाँ।

आम्—अनुमति सूचक निपात; यह किसी समय स्मरण करना भी प्रकट करता है। पार्श्व-गतः—पार्श्वं गतः (तत्पु०). स जनः—वह व्यक्ति; इससे मालविका की ओर सङ्केत है। यह ध्यान में रखा जाय कि एक विशेष लिंग का शब्द दूसरे लिंग के शब्द का बोध करा सकता है। चित्र—चित्रलेखा, प्रतिकृति और प्रतिच्छन्द इसके पर्यायवाची हैं जिनका यहां नाटक में प्रयोग किया गया है।

बकुला०—हाँ, चित्र में रानी के पास खड़ी को देख लिया।

कौमुदिका—सो कैसे ?

†प्रत्यग्र—ताज़ा. चित्र-शाला—चित्र-सारी. चित्र-लेखा—तसवीर.

चित्रशालाम्—चित्राणां शाला (तत्पु०), ताम्, इससे तात्पर्य तसवीरों

कौमुदिका—तदो तदो। [ततस्ततः।]

बकुला०—उवआराणन्तरं एकासणोवविठ्ठेन भट्टुणा चित्तगदाए देविए परिअणसज्झगदं आसण्णअरं तं पेक्खिअ देवी पुच्छिदा । [उपचारानन्तरम् एकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्र-गताया देव्याः परिजन-मध्य-गताम् आसन्न-तरां तां प्रेक्ष्य देवी पृष्टा ।]†

कौमुदिका—किं विअ। [किमिव।]

बकुला०—अपुव्वा इअं दारिआ, आसण्णा अ देविए आलिहिदा; किंणामहेअत्ति । [अपूर्वेयं दारिका, आसन्ना च देव्या आलिखिता। किं नामधेया' इति।]‡

से सजा हाल कमरा नहीं लेना चाहिए। प्रत्यग्र शब्द इसके विपरीत जाता है।

प्रत्यग्र-वर्ण-रागाम्—वर्णस्य (=रञ्जनद्रव्यस्य) रागः (तत्पु०) प्रत्यग्रः वर्णरागः यस्याः सा (बहु०) ताम्, राग का यहां अर्थ रङ्ग है किन्तु और कहीं इसका अर्थ 'लेप' भी है। (देखो अंक ३.११; अंक ३ में श्लोक १२, १३ के बीच)

बकुला०—सुनो, चित्रशाला में जाकर रानी आचार्य के (लिखे) ताज़े भरे रङ्गों वाले चित्र को देख रही थी कि उसी समय महाराज आ पहुँचे।

कौमुदिका—हाँ, फिर क्या हुआ?

†उपचार—उपहार, भेंट. आसन्नतर—बहुत पास.

उपचार—पुं०, शिष्टाचार, स्वागत का काम; इसका अर्थ 'सेवा, उपस्थिति, प्रणाम आदि भी है। एकासनोपविष्टेन—एकं च तद् आसनं च एकासनम् (कर्म०); 'एक ही आसन पर बैठना' (यहां एक का प्रयोग देखो), एकासने उपविष्टः (तत्पु०), तेन.

बकुला०—शिष्टाचार के पश्चात उसी आसन पर बैठे महाराज ने उसे रानी के चित्र में दासियों के बीच रानी के बहुत पास (चित्रित) देख कर रानी से पूछा।

कौमुदिका—(पूछा) क्या?

‡अपूर्वा—असाधारण. दारिका—कन्या.

कौमुदिका—आकिदिविसेसेसु आअरो पदं करेदि । तदो तदो
[आकृति-विशेषेष्वादरः पदं करोति । ततस्ततः]

बकुला०—तदो अवहीरिअवअणो भट्टा सङ्किदो देवीं पुणो पुणो वि अनुबन्धिदुं पवुत्तो । तदो जाव देवी ण कहेदि दाव कुमारिए वसुलच्छीए आचक्खिदम् । आवुत्त, ऐसा मालविअत्ति । [ततोऽवधीरित-वचनो भर्ता शङ्कितो देवीं पुनः पुनरप्यनुबन्द्धुं प्रवृत्तः । ततो यावद्देवी न कथयति तावत् कुमार्या वसुलक्ष्म्याख्यातम् , 'आवुत्त ! एषा मालविका' इति ।]

अपूर्वा—नई जो पहले नहीं देखी गई । इसका अर्थ 'अनुपम सुंदरी' भी है । रानी यह दूसरा अर्थ लेती है । मन में तो राजा का भी यही अर्थ है परंतु रानी से वह पहला ही भाव रख कर बात करता है ।

किंनामधेया—नाम एव नामधेयम् (नाम और नामधेय में कोई भेद नहीं; भाग-रूप-नामभ्यो धेयः वा० ५. ४. २६; भाग, रूप और नाम के आगे 'धेय' के जोड़ने पर अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता) किं नामधेयं यस्याः सा (बहु०)

बकुला०—इस लड़की को पहले मैंने कभी नहीं देखा और यह रानी के पास चित्रित है ! इसका क्या नाम है ?

आकृति—शकल, सूरत. पद —स्थान.

आकृति-विशेषेषु—आकृतीनां विशेषाः (तत्पु०), तेषु, 'खास-खास रूपों के आधार पर'; अथवा आकृतौ विशेषः येषां ते (बहु०) तेषु, 'उनके सम्बन्ध में जो अपनी शकल में कोई विशेषता रखते हैं' । पदं करोति—स्थान बना लेता है (अङ्घ्रि निदधाति), अथवा स्थान पा लेता है (स्थानं लभते): दोनों तरह अर्थ यही है कि एक साथ ही अनुभव होता है । इस प्रकार आकृति... करोति—सुंदर सूरतें आदर पा लेती हैं । पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते रघु० ५. ३८.

कौमुदिका—अनुपम सौंदर्य(आकृति)प्रशंसा(आदर)को पाता है । फिर क्या?

†अवधीरित—तिरस्कृत. अनुबन्द्धुम्—प्रार्थना करने के लिए. आवुत्त—जीजा. बाल-भाव—बचपन.

अवधीरित-वचनः—अवधीरितं वचनं यस्य सः (बहु०), अव+√धीर्

कौमुदिका—(सस्मितम्) सरिसं क्खु बालभावस्स । अदो परं कहेहि । [सदृशं खलु बाल-भावस्य, अतः परं कथय ।]*

बकुला०—–किं अराणं । संपदं मालविया सविसेसं भट्टिणो दंसणपहादो रक्खीअदि । [किमन्यत् । साम्प्रतं मालविका सविशेषं भर्तुर्दर्शन-पथाद् रक्ष्यते ।]‡

कौमुदिका—–हला, अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं । अहं वि एदं अङ्गुलीअअं देवीए उवणइस्सम् । [सखी ! अनुतिष्ठ आत्मनो नियोगम् । अहमप्येतद् अङ्गुलीयकं देव्या उपनेष्यामि ।]† (इति निष्क्रान्ता)

---

१० पर० 'तिरस्कार करना'+क्त । शङ्कितः—शङ्का अस्य सञ्जाता असौ (शङ्का+इतच्)। अनुबन्द्धुम्—–अनु+√बन्ध् ७ उ०+तुम् (तुमुन्) 'बार बार पूछना' । वसुलक्ष्मी—यह कन्या राजा अग्निमित्र को 'आवुत्त' कहकर बुलाती है । इसलिए यह रानी धारिणी की छोटी बहन जान पड़ती है । आवुत्त—नाटक में जीजा को आवुत्त कहकर सम्बोधन किया जाता है ।

बकुला०—तब राजा को, जिसके वचनों की परवाह नहीं की गई थी, संदेह हुआ। और वह रानी से बार बार-बार पूछने लगा । जब रानी ने कुछ उत्तर न दिया, तब कुमारी वसुलक्ष्मी ने कहा, 'जीजा जी ! यह मालविका है ।'

*सदृशम्—अनुकूल; इस शब्द के साथ तृतीया वा षष्ठी का प्रयोग होता है । (तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् पा० २. ३. ७२.)

कौमुदिका—(मुस्करा कर) यह बचपन के अनुकूल ही है, इसके आगे कहो।

‡सविशेषम्—विशेष रूप से. रक्ष्यते—बचाई जाती है.

दर्शन-पथात्—दर्शनस्य पन्थाः (तत्पु०), तस्मात्; समास के अंत में पथिन् शब्द पथ में बदल जाता है । (ऋक्-पूरब्धूः-पथामानक्षे पा० ५. ४. ७४.) जिससे कोई वस्तु छिपाई जाय, वह पांचवीं विभक्ति में रखा जाता है। (अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति पा० १. ४. २८).

बकुला—और क्या ? अब मालविका विशेष रूप से महाराज की नज़रों से बचाई जाती है ।

†नियोग—कर्त्तव्य, काम.

बकुला०—(परिक्रम्यावलोक्य च) एसो णट्टाआरिओ अज्जगणदासो सङ्गीद-सालादो णिक्कम्मदि। जाव से अत्ताणं दंसेमि। [एष नाट्याचार्य आर्य-गण-दासः सङ्गीत-शालातो निष्क्रामति । यावदस्मायात्मानं दर्शयामि।]

(इति परिक्रामति)*

(प्रविश्य)

गणदासः—कामं खलु सर्वस्यापि कुल-विद्या बहु-मता। न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्या-गौरवम्। कुतः †

कौमुदिका—सखी! अपने काम का ध्यान करो। मैं भी यह अंगूठी रानी के पास ले जाती हूँ।

*दर्शयामि—(लट्) निकट भविष्य के अर्थ में (वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा पा० ३. ३. १३३).

बकुला०—(घूम कर और देखती हुई) नाट्याचार्य श्रीमान् गणदास सङ्गीत-शाला से बाहर आ रहे हैं। तो मैं इनके सामने जा पहुँचती हूँ। (घूमती है)।

(प्रवेश करके)

†कामम्—चाहे. कुल-विद्या—कुल (खानदान) की विद्या. बहु-मता—बहुत आदर की जाती है. मिथ्या-गौरव—झूठा (कोरा) अभिमान.

कामम्—अ०; चाहे, माना, निःसन्देह, इस शब्द से प्रायः वर्णन की जाने वाली वस्तु के विषय में कुछ अरुचि का भाव पाया जाता है। (अकामानुमतौ कामम् नाम० ३. ४. १२). बहु-मता—'बहुत आदर को प्राप्त है'; मता—√मन्+त (क्त; मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च पा० ३. ४. १२) +आ (टाप्); बहु यथा स्यात् तथा मता बहुमता (सुप्सुपा इति समास; केवलसमास)। मता—शत्रन्त सूचक (क्त) होने से सर्वस्य का षष्ठी में प्रयोग ठीक ही है। (क्तस्य च वर्तमाने पा० २. ३. ६७) मन्, बुध्, पूज् तथा इन अर्थों वाले धातुओं के शत्रन्त शब्दों का लट् के अर्थ में षष्ठी विभक्ति के साथ प्रयोग होता है।

गणदास—माना कि सब किसी को अपने कुल की विद्या के प्रति बहुत आदर भाव होता है, किन्तु नाटक के प्रति हमारा कोरा अभिमान नहीं। क्योंकि—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृत-व्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोक-चरितं नाना-रसं दृश्यते
नाट्यं भिन्न-रुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—मुनयः इदं (नाट्यं) देवानां कान्तं चाक्षुषं क्रतुम् आमनन्ति । रुद्रेण उमा-कृत-व्यतिकरे स्वाङ्गे इदं द्विधा विभक्तम् । अत्र त्रैगुण्योद्भवं लोक-चरितं नाना-रसं दृश्यते । (अतएव) नाट्यम् एकम् अपि भिन्नरुचेः जनस्य बहुधा समाराधनम् ।

श०—कान्त—सुन्दर, हिंसा-रहित. चाक्षुष—नेत्र द्वारा अनुभव होने वाला. क्रतु—यज्ञ. आमनन्ति—कहते हैं. व्यतिकर—सम्बन्ध. त्रैगुण्य—तीन गुण, सत्त्व, रजस् और तमस् . लोक-चरित—लोगों के चरित. भिन्न-रुचेः—भिन्न-भिन्न रुचि वाले. बहुधा समाराधनम्—अनेक प्रकार से मनोविनोद करना .

टि०—आमनन्ति—आ+√म्ना १ पर० 'कहना, बताना' जैसे शास्त्रादि में। नाट्य-वेद—कहा गया है कि नाट्यवेद चारों वेदों से बनाया गया है, इसलिए दृश्य-कला यज्ञ से किसी प्रकार कम नहीं है। चाक्षुषम्—चक्षुष इदम् (प्रियत्वसम्बन्धेन), आँख से सम्बन्ध रखने वाला; आँखों को प्रिय होने के कारण; आँखों को प्रिय। उमा-कृत-व्यतिकरे—उमया कृतः व्यतिकरः (सम्बन्धः; स च संमिश्रणरूप एकीभावरूप इति यावत्) यत्र सः (बहु०) तस्मिन् ; जिसमें उमा ने अपना सम्बन्ध बना लिया है। यहां संकेत है, शिवजी के अर्ध-नारीश्वर रूप की ओर जिसके द्वारा दोनों पुरुष और स्त्री का बोध होता है। और यही नाटक के आवश्यक अंग हैं। स्वाङ्गे—स्वस्य अङ्गम् (तत्पु०) तस्मिन् । द्विधा—द्वे विधे यस्य तत् (संख्याया विधार्थे धा पा० ५. ३. ४२) दो प्रकार से; दो भागों में; इसी अर्थ के सूचक और भी रूप हैं: द्वैधम् (अ०), द्विध (विशेषण) और द्वेधा (द्वित्र्योश्च धमुञ् पा० ५. ३. ४५; धमुञन्तात् स्वार्थे डदर्शनम् वा ५. ३. ४५; एधाच्च पा० ५. ३. ४६)। विभक्तं द्विधा—दो भागों में बांटा गया। शिव ने दृश्य-कला को ताण्डव (शिव का नृत्य) और लास्य (पार्वती का नृत्य) दो भागों में

बकुला०—(उपेत्य) अज्ज, वन्दामि। [आर्य ! वन्दे।] *

गणदासः—भद्रे ! चिरं जीव।

बकुला०—अज्ज, देवी पुच्छदि। अवि उवदेसग्गहणे णादिकिलेसेदि वो सिस्सा मालविअत्ति। [आर्य ! देवी पृच्छति, 'अप्युपदेश-ग्रहणे नातिक्लेशयति वः शिष्या मालविका' इति।]†

बाँटा है। इसमें दोनों पुरुष और स्त्री के नृत्य का बोध होता है।

त्रैगुण्योद्भवम्—त्रयो गुणाः त्रैगुण्यम् (त्रिगुण+ष्यञ्=य; चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् वा ५. १. १२४), तस्मात् उद्भवः यस्य तत् (बहु०), तीन गुणों में उत्पत्ति पाने वाला (सत्त्व, रजस् और तमस् जो कि प्रकृति के तीन अंग हैं। लोक-चरितम्—लोकस्य चरितम् (तत्पु०)। नाना-रसम्—नाना रसाः यत्र तत् (बहु०) नाना विनोदों के देने वाला; नाना प्रकार के रसों को उत्पन्न करने वाला। निःसन्देह संसार के तथ्यों में भीषण दुःखदायी तथा बीभत्स घटनाएँ और दृश्य भी रमणीय बन जाते हैं जब निपुण व्यक्ति द्वारा वे नाटक में रखे जाते हैं। बहुधा–बहवः विधाः यस्य तत्; बहुत तरह के, कई प्रकार के रसों को उत्पन्न करने के कारण; अथवा आँख को नृत्य द्वारा और कान को गान द्वारा प्रसन्न करने के कारण, अथवा नृत्त, गीत और वाद्य का संमिश्रण होने के कारण। [शार्दूलविक्रीडित]

हिन्दी—ऋषि-मुनि इस नाट्य (अभिनय) को देवताओं का सुन्दर और आँखों को आनन्द-दायक यज्ञ कहते हैं। शिवजी ने पार्वती से युक्त अपने अंग में इसे दो प्रकार से विभक्त किया है। इसमें तीन गुणों से उत्पन्न होने वाला मनुष्यों का चरित कई प्रकार के रसों से युक्त दिखाई देता है। (अतएव) अकेला भी नाट्य (अभिनय) भिन्न-भिन्न रुचि वाले मनुष्यों का अनेक प्रकार से विनोद करता है। [४]

*उपेत्य–उप+इ (इण्)+त(तुक्; ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् पा० ६.१.७१)य(ल्यप्)

बकुला०—(पास आकर) आर्य ! नमस्कार।

गणदास—भद्रे ! चिरकाल जीओ।

†क्लेशयति—दुःख देती है, तंग करती है।

गणदासः—भद्रे ! विज्ञाप्यतां देवी 'परम-निपुणा मेधाविनी च' इति । किं बहुना,*

यद्यत्प्रयोग-विषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेष-करणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥ ५ ॥

अपि—अव्यय, वाक्य के आरम्भ में प्रश्न का बोध कराता है ।

बकुला०—आर्य ! रानी पूछती है कि आपकी शिष्या मालविका आपको शिक्षा-ग्रहण करने में बहुत तंग तो नहीं करती ?

*विज्ञाप्यताम्—सादर निवेदन कर दिया जाय. मेधाविनी—बुद्धिमती. परम-निपुणा—परमा च असौ निपुणा च (कर्म०) । मेधाविनी—मेधा+विन्+ई (ङीप्); मेधा का अर्थ है बुद्धि; विन् (विनि) मतुप् के बदले लगता है । मतुप् और इसके बदले लगने वाले प्रत्ययों के अर्थ निम्न कारिका में दिए गए हैं :—

भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
प्राशस्त्येऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

यहां विनि श्रेष्ठता का बोधक है । मेधाविनी का मन्दमेधा विपरीतार्थ है ।

गणदास—कल्याणि ! रानी से निवेदन कर दो कि वह बहुत चतुर और बुद्धिमती है । संक्षेप में,

अन्वयः—प्रयोग-विषये मया तस्यै यत् यत् भाविकम् उपदिश्यते, तत् तत् विशेष-करणात् मे (सा) बाला प्रत्युपदिशति इव ।

श०—प्रयोग-विषय—अभिनय के विषय में. भाविक—हाव-भाव, भावों का प्रकट करना; एक प्रकार का नृत्य. विशेष-करण—बढ़ा-चढ़ाकर. प्रत्युपदिशति —उलटा सिखाती है.

टि०—यद्यत्प्रयोगविषये—प्रयोग—अभिनय, तजरुबा, क्रिया, व्यवस्था । भाविकम्—भावमर्हति इति भाविकम् ; भाव+इक (ठक् ; आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् पा० ५. १. १६; तदर्हति पा० ५. १. ६३), रस के अनुकूल, अर्थात् जिसके भाव तथा भावनाएँ ठीक प्रकार से प्रकट हो सकें । तत्तद्—इसका दो प्रकार से अर्थ हो सकता है । (१) यह फिर पूरे समास तत्तद्विशेषकरणात्

बकुला०—(आत्मगतम्) अदिक्कमन्तिं विअ इरावदिं पेक्खामि । (प्रकाशम्) किदत्था दाणिं वो सिस्सा जस्सिं गुरुअणो एव्वं तुस्सदि । [अतिक्रामन्तीमिवेरावतीं पश्यामि । कृतार्थेदानीं वः शिष्या, यस्यां गुरु-जन एवं तुष्यति ।]*

गणदासः—भद्रे ! तद्विधानामसुलभत्वात् पृच्छामि, कुतो देव्या तत्पात्रमानीतम् ।‡

वा अंग लिया जा सकता है (उन्हें सुधार करके) वा (२) यद्यत् के सम्बन्ध में दो अलग-अलग शब्द और क्रिया उपदिशति हो। यहाँ इसका अर्थ होगा 'वे सब चीज़ें' वा 'वही सब चीज़ें'; दूसरा अर्थ पहले से अच्छा है। बाला—बाल + आ (टाप्); सोलह साल के भीतर की आयु की लड़की। [आर्या वृत्त]

हिन्दी—प्रयोग के विषय में मैंने उस (मालविका) को जो हाव-भाव-मय नृत्य सिखलाये हैं, उनको विशेष रूप से करने के कारण वह कन्या (मालविका) मानो उलटा मुझे सिखाती है। [५]

*अतिक्रामन्ती—मात करती हुई. कृतार्था—सफल. पात्र—योग्य व्यक्ति. आत्मगतम्—नाटक में इसके पाँच भेद हैं :—(१) आत्मगत वा स्वगत, (२) प्रकाश, (३) अपवारित, (४) जनान्तिक, (५) और आकाशभाषित। इरावतीम्—इरावती राजा अग्निमित्र की छोटी रानी थी, और मालविका से पहले उसकी बड़ी लाड़ली थी। यहां बकुलावलिका कहती है कि मालविका, जो इरावती को सौन्दर्य में मात कर रही है, उसे कला-कौशल में भी क़रीब ज़रूर मात कर जायगी। उसके मन में गुप्त रूप से भी धारणा जान पड़ती है कि मालविका राजा के हृदय में भी इरावती को शीघ्र मात कर देगी। कृतार्था—कृतोऽर्थो येन सा (बहु०), जिसने अपना मनोरथ पा लिया, सफल। यस्याम्—(=यद्विषये) जिसके सम्बन्ध में।

बकुला०—(अपने आपको) मेरे विचार में इसने इरावती को मात कर दिया। अब आपकी शिष्या सफल है, जिसके लिए गुरु इस प्रकार सन्तोष प्रकट कर रहा है।

‡तद्विधानाम्—सा विधा येषां (वा यासां) ते (वा ताः) तद्विधाः (बहु०), तेषाम् (वा तासाम्), यह विशेषण है। यह जनानाम् वा पात्राणाम् (यदि

बकुला०—अत्थि देवीए वरणावरो भादा वीरसेणो णाम। सो भट्टिणा णम्मदातीरे अन्तवालदुग्गे ठाविदो। तेण सिप्पाहिआरे जोग्गा इअं दारिअत्ति भइणीए उवाअरणं पेसिदा। [अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपाल-दुर्गे स्थापितः। तेन शिल्पाधिकारे योग्येयं दारिकेति भगिन्या उपायनं प्रेषिता।]†

गणदासः—(स्वगत) आकृति-विशेष-प्रत्ययाद् एनाम् अनूनवस्तुकां सम्भावयामि। (प्रकाशम्) भद्रे! मया यशस्विना भवितव्यम्। यतः,*

संकेत साधारण रूप से रखा जाय) वा कन्यकानाम् (इत्यादि, यदि संकेत केवल स्त्री-पक्ष में ही लिया जाय) इसका अर्थ है—उस प्रकार के जनों का।

गणदास—कल्याणि! ऐसे लोगों के दुर्लभ होने से पूछता हूँ कि रानी को यह पात्र कहां से मिला?

†वर्णावरः—नीचे के वर्ण का. अन्तपाल-दुर्ग—सीमावर्ती दुर्ग. शिल्पाधिकार—ललित कलाओं के सीखने की योग्यता. उपायन—भेंट.

वर्णावरः—वर्णेन अवरः (तत्पु०); वर्ण में नीच, नीच वर्ण के भाई की सम्भावना नीच वर्ण की सौतेली माता द्वारा हो सकती है। अन्तपालदुर्ग—अन्त (=सीमां) पालयति (=रक्षति) इति अन्तपालः (उपपद०) स चासौ दुर्गश्चेति (कर्म०)। शिल्पाधिकारे—शिल्पस्य अधिकारे; अधिकार 'सीखने की योग्यता'।

बकुला०—रानी (धारिणी) का क्षुद्र वर्ण वाला भाई वीरसेन है, जिसे नर्मदा तट के सीमावर्ती दुर्ग पर नियुक्त किया गया है। उसी ने "यह कन्या ललित-कला की शिक्षा के योग्य है" ऐसा विचार कर उसे बहन को भेंट में भेज दिया है।

*अनूनवस्तुका—विशिष्ट वा असाधारण वस्तु. सम्भावयामि—मानता हूँ.

आकृति-विशेष-प्रत्ययात्—आकृतौ विशेषः (तत्पु०), तस्मात् (वा तस्मिन्) प्रत्ययः (तत्पु०) तस्मात्: खास शक्ल-सूरत के आधार पर, अर्थात् उसके रूप को देख कर। अनूनवस्तुकाम्—न ऊनम् (नञ्-तत्पु०), अनूनं (=अनल्पं, विशिष्टं) वस्तु (=वृत्तं) यस्याः सा (बहु०), ताम्।

पात्र-विशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्र-शुक्तौ मुक्ता-फलतां पयोदस्य ॥ ६ ॥

गणदासः—(अपने आपको) खास शक्ल-सूरत के विश्वास के आधार पर मैं इसे विशिष्ट वस्तु समझता हूँ। (प्रकट) कल्याणि ! मैं यशस्वी हो जाऊँगा। क्योंकि,

अन्वयः—आधातुः शिल्पं पात्र-विशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति। पयोदस्य जलं समुद्र-शुक्तौ (न्यस्तं) मुक्ता-फलताम् इव।

श०—आधातुः—शिक्षक का. न्यस्त—रखी हुई. गुणान्तर—विशेष गुण. पयोद—बादल. समुद्र-शुक्ति—सीपी. मुक्ता-फल—मोती का रूप.

टि०—पात्रविशेषे—पात्राणां विशेषः(तत्पु०), तस्मिन्। न्यस्तम्—नि + √अस् ४पर०+त (क्त)। गुणान्तरम्—अन्यो गुणः गुणान्तरम् (कर्म०, मयूरव्यंसकादयश्च पा० २. १. ७२); यहां अन्तर और गुण शब्दों का समास हुआ है किन्तु विग्रह करते समय अन्यत् शब्द अन्तर के बदले होता है, अतएव यह नित्यसमास हुआ। व्रजति—व्रज् १ पर०। आधातुः—आधातृ=आ+√धा+तृ (तृन् पा० ३.२. ११४), जो भीतर रखता है वा प्रदान करता है अर्थात आचार्य; यह ध्यान में रहे कि यहाँ आधातुः शब्द का पात्र-विशेष और न्यस्तम् के साथ समुचित प्रयोग हुआ है। मुक्ता-फलताम्—मुक्ता फलमिव मुक्ताफलम् (कर्म०), तस्य भावः मुक्ता-फलता, ताम्। पयोदस्य—पयः ददाति इति पयोदः, तस्य; पयः+√दा ३ उ०+अ (क; आतोऽनुपसर्गे कः पा० ३. २. ३) कालिदास उपमा के लिए प्रसिद्ध है। (उपमा कालिदासस्य) उसके जीते-जागते दृश्य गोचर पदार्थों का बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं। यह श्लोक उपमा का अच्छा उदाहरण है। यह उपमा इस धारणा पर आश्रित है कि स्वाति नक्षत्र में वर्षा की बून्द सीपी में पड़कर मोती में बदल जाती है। [आर्या वृत्त]

हिन्दी—जिस प्रकार बादल का पानी समुद्र की सीप में पड़ कर मोती बन जाता है, उसी प्रकार मनोहर पात्र में दी हुई गुरु की विद्या विशेष गुण वाली हो जाती है।

[६]

बकुला०—अह कहि वो सिस्सा। [अत्र कुत्र वः शिष्या।]

गणदासः—इदानीमेव पञ्चाङ्गाभिनयमुपदिश्य मया 'विश्रम्यताम्' इत्यभिहिता दीर्घिकावलोकन-गवाक्ष-गता-प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।†

बकुला०—तेण हि अणुजाणादु मं अज्जो। जावसे अज्जस्स परितोसणिवेदणेण उच्छाहं वड्ढेमि। [तेन ह्यनुजानातु मामार्यः। यावदस्या आर्यस्य परितोष-निवेदनेनोत्साहं वर्धयामि।]†

बकुला०—आपकी शिष्या यहां कहां है?

†पञ्चाङ्गाभिनय—शरीर के पांच अंगों के आधार पर किया अभिनय. दीर्घिका—बावडी. गवाक्ष—खिड़की. आसेवमाना—सेवन करती हुई. प्रवात—मज़ेदार हवा.

पञ्चाङ्गाभिनयम्—पञ्चानामङ्गानां समाहारः पञ्चाङ्गम् (द्विगु; समाहार द्योतक द्विगु समास सदा नपुंसक लिंग और एकवचन में होता है; स नपुंसकम् पा० २. ४. १७ और द्विगुरेकवचनम् पा० २. ४. १); तेन अभिनयः। अभिनय को पहले चार भागों में बांटा गया है:— (१) आङ्गिक, अंगों के आधार पर (२) वाचिक, बोलने के आधार पर (३) आहार्य, वेष-भूषा के आधार पर और (४) सात्त्विक, आन्तरिक भावों के आधार पर, अर्थात पसीना, रोमांच आदि। दीर्घिका-वलोकन-गवाक्ष-गता—दीर्घिकायाः अवलोकनम् (तत्पु०), तस्याः गवाक्षः, तं गता (तत्पु०)। प्रवातम्—प्रशस्तः वातः (प्रादि-कर्म०) तम्।

गणदास—अभी-अभी (चित्त, अक्षि, भ्रू, हस्त, पाद आदि) पाँच अंगों के अभिनय का उपदेश देकर मैंने उसे आराम करने को कहा है, और वह बावडी की तरफ़ पड़ने वाली खिड़की में बैठी मज़ेदार हवा का आनन्द ले रही है।

†अनुजानातु—आज्ञा दें.

यावत्—अ० अब; यह वह क्रिया बताता है जो निकट भविष्य में होने वाली है। यह अव्यय निश्चयात्मक भाव को बताता है। वर्धयामि—बढ़ाती हूँ; यदि लट् का यावत् और पुरा अव्ययों के साथ प्रयोग हो तो इसका अर्थ भविष्य

गणदासः—दृश्यतां सखी ! अहमपि लब्ध-क्षणः स्वगृहं गच्छामि ।‡

(इति निष्क्रान्तौ)

मिश्रविष्कम्भः

(ततः प्रविशत्येकान्तस्थ-परिजनो मन्त्रिणा लेख-हस्तेनान्वास्यमानो राजा)*

राजा—(अनुवाचित-लेखममात्यं विलोक्य) वाहतक, किं प्रतिपद्यते वैदर्भः।†

का हो जाता है। (यावत्पुरानिपातयोर्लट् पा० ३. ३. ४),

बकुला०—तो आप मुझे आज्ञा दें ताकि मैं अब आपका संतोष बता कर उसका उत्साह बढ़ाऊँ।

‡लब्धक्षणः—क्षण पु० और नपुं०; सेकण्ड का ४।५ भाग; यहां 'विश्राम'; लब्धं क्षणं येन सः (बहु०);

गणदास—सहेली से मिल लो। मुझे भी विश्राम मिला, मैं अपने घर जाता हूँ।

[प्रस्थान

मिश्रविष्कम्भः—विष्कम्भ का प्रयोग नाटक में इसलिए किया जाता है कि दर्शकगण उन घटनाओं से परिचित हो जायँ जो कि कथानक के आवश्यक भाग हैं, किन्तु रंगमंच पर वे अभिनय होने योग्य नहीं।

---

*एकान्त—अकेले में. अन्वास्यमानः—सेवित.

एकान्तस्थ-परिजनः—एकान्ते तिष्ठति इति एकान्तस्थः (एकान्त + √स्था १ पर०+अ (=क; सुपि पा० ३. २. ४.)। किंचिद् दूरदेशे स्थितः इति यावत्; एकान्तस्थः परिजनः यस्य सः (बहु०); जिसका सेवकवर्ग दूरी पर स्थित है; यह आवश्यक था, क्योंकि राज की बातों पर विचार हो रहा था। लेख-हस्तेन—लेखः हस्ते यस्य सः (व्यधिकरण–बहु०)। अन्वास्यमानः—अनु + √आस् २ आ० 'बैठना' + णिच्+शानच्, सेवित।

(इसके पश्चात् हाथ में पत्र लिए मन्त्री द्वारा सेवित और भृत्यवर्ग को कुछ दूरी पर रखे राजा का प्रवेश)

†अनुवाचित—अपने आप पढ़ लिए गए. प्रतिपद्यते—स्वीकार करता है.

अमात्यः—देव ! आत्म-विनाशम् ।

राजा—संदेशमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।

अमात्यः—इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम्—"पूज्येनाहमादिष्टः 'पितृव्य-पुत्रो भवतः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुत-सम्बन्धो ममोपान्तिकम् उपागच्छन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्द्य गृहीतः । स त्वया मदपेक्षया सकलत्र-सोदर्यो मोक्तव्यः' इति । तन्न वो न विदितं यत्तुल्याभिजनेषु भूमि-हरेषु राज्ञां वृत्तिरीदृशी । अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति । सोदर्या पुनरस्य ग्रहण-विप्लवे विनष्टा । तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये । अथावश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्यः, श्रूयतामभि-सन्धिः-*

अनुवाचित-लेखम्—अनुवाचितः लेखः येन सः (बहु०), तम् । प्रतिपद्यते—पद् १ आ० 'जाना', प्राप्त करना' धातु के उपसर्ग के साथ कई अर्थ हो जाते हैं । उनमें से जो यहां संगत हैं: वे ये हैं 'आश्रय लेना, रास्ता पकड़ना, उत्तर देना' किं प्रतिपद्यते का अर्थ यहां यह लिया जाय " वैदर्भ-राज क्या ढँग अपनायेगा ?" वैदर्भः—विदर्भ-राज (विदर्भ आजकल के बरार का नाम है) का नाम यज्ञसेन था और वह मालविका का भाई था ।

राजा—(मन्त्री की ओर, जिसने पत्र पहले आप पढ़ लिया था, देखकर) वाहतक ! विदर्भ-राज क्या प्रस्ताव करता है ?

†अमात्य—मन्त्री. देव—राजन् !

देव—नाटक में सेवक लोग राजा को देव कहकर बुलाते हैं । आत्म-विनाशम्—'प्रतिपद्यते' यहां लगाना होगा । इसका अर्थ है: 'उसने अपने सर्वनाश का रास्ता चुना है ।'

मन्त्री—सर्व-नाश ! राजन् !

राजा—मैं अब सन्देश सुनना चाहता हूँ ।

*प्रतिलिखित—उत्तर में लिखा गया. प्रतिश्रुत—स्वीकृत. अन्तरा—बीच में. अन्तपाल—सीमा-रक्षक. अवस्कन्द्य—आक्रमण करके. अपेक्षा—मेरे लिए. कलत्र—(नपुं०)स्त्री. सोदर्य—सगा भाई. अभिजन—वंश, जन्म. वृत्तिः—

बर्ताव. मध्यस्थ—तटस्थ. ग्रहण—पकड़ना. विप्लव—गड़बड़. अथ—यदि. अभिसन्धिः—शर्त.

प्रतिलिखितम्—'बोलना, लिखना' अर्थ वाली धातुओं के साथ प्रति उपसर्ग लगने से उनके अर्थ में 'उत्तर में' जुड़ जाता है। पितृव्य—पितुः भ्राता, चाचा, ताऊ। भवतः—इसको पितृव्यपुत्रः के साथ लगाना चाहिए। प्रतिश्रुत-सम्बन्धः—प्रतिश्रुतः सम्बन्धो येन सः (बहु०)। त्वदीयेन—तव इदम् (युष्मद्+ईय=छ; त्यदादीनि च पा० १. १. ७४; वृद्धाच्छः ४. २. ११४; प्रत्ययोत्तरपदयोश्च पा० ७. २. ९८); तेन। अवस्कद्य—अव+√स्कन्द् १ पर० 'जाना, उछलना, सूख जाना'+य (ल्यप्)। गृहीतः—√ग्रह् ७ उ० 'पकड़ना' +क्त। मदपेक्षया—मयि अपेक्षा मदपेक्षा (युष्मद् तद् में बदल जाता है; प्रत्ययोत्तरपदयोश्च पा० ७. २. ९८) तया; मेरे कारण। सकलत्र-सोदर्यः—कलत्रेण सोदर्यया च सह (बहु०; तेन सहेति० पा० २. २. २८. वोपसर्जनस्य पा० ६. ३. ८२ स्त्रियाः पुंवद्भा० पा० ६. ३. ३४); सोदर्या—समाने उदरे शयितः सोदर्यः (समान+उदर+य ; समान स में बदल जाता है; विभाषोदरे पा० ६. ३. ८८ ; और तब सोदराद् यः पा० ४. ४. १०९. दूसरा रूप समानोदर्य भी है); स्त्री चेत् सोदर्या। तन्न वो न विदितम्—दोहरा निषेध-सूचक शब्द सीधे अर्थ का समर्थन करता है। वः—बहु० आदर-सूचक प्रयोग। तुल्याभिजनेषु—तुल्यः अभिजनः येषां ते (बहु०), तेषु।

भूमि-हरेषु—भूमिं हरन्ति इति (भूमि + हृ + अ= अच् ; हरतेरनुद्यमनेऽच् पा० ३. २. ९) तेषु, ज़मीन के अपहारकों के सम्बन्ध में। मध्यस्थः—मध्ये तिष्ठति इति (देखो, एकान्तस्थ पृष्ठ २४) यज्ञसेन के कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे में और माधवसेन में जो झगड़ा है वह घरेलू है, उसमें तीसरे आदमी को तटस्थ रहना चाहिए। पुनः—अ० इस सम्बन्ध में। ग्रहण-विप्लवे—ग्रहणस्य (ग्रहणे वा) विप्लवः (तत्पु०), तस्मिन्। अथ—अ० अगर यह हो, यदि। मोचयितव्यः—√मुच् ७उ० 'छोड़ना'+णिच्+तव्य, छुड़वाना है। पूज्येन—णिजन्त कर्तृवाचक और मया साधारण कर्तृवाचक। अभिसन्धिः—तात्पर्य, भाव; यहां अर्थ 'शर्त' होगा।

मौर्य-सचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
मोक्ता माधवसेनं ततोऽहमपि बन्धनात् सद्यः ॥ ७ ॥" इति।

मन्त्री—अब उसने उत्तर में यह लिखा है—"पूजनीय द्वारा मुझे आदेश मिला है कि 'आप का चचेरा भाई कुमार माधवसेन, जो सम्बन्ध की प्रतिज्ञा से हमारे पास आ रहा था, उसे आपके सीमान्त-रक्षक ने रास्ते में आक्रमण करके बन्दी बना लिया है। मेरे लिए स्नेह के कारण आपको उसे स्त्री तथा बहन सहित मुक्त करना उचित है।' यह बात आपसे छिपी नहीं कि समान-वंशजों के साथ राजा लोगों का ऐसा ही बर्ताव होता है। इसलिए इस विषय में पूजनीय को तटस्थ रहना उचित है। उसके ढूंढने के लिए प्रयत्न करूंगा। और यदि अवश्य ही मुझ से पूजनीय आप माधवसेन को छुडाना चाहते हैं तो मेरी शर्त सुन लें—

अन्वयः—पूज्यः संयतं मम श्यालं मौर्य-सचिवं विमुञ्चति यदि ततः अहम् अपि माधवसेनं बन्धनात् सद्यः मोक्ता।

श०—संयतः—बन्दी किया गया. सद्यः—तत्काल, तुरंत.

टि०—मौर्यसचिवम् – यह मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ का मन्त्री प्रतीत होता है, जिसे अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र ने राज से हटा दिया था। इस पद्य से स्पष्ट है कि वह यज्ञसेन का चचेरा भाई था। उसे नये राजा के हित की रक्षा के लिए बन्दी बना लिया गया जान पड़ता है। मालूम यह होता है कि यज्ञसेन ने बदला लेने के लिए अग्निमित्र के होने वाले साले को पकड़ लिया। टीकाकार काटयवेम (?१४०० ई०) इस शब्द को नाम लेने में गलत जान पड़ता है। सचिव— मन्त्री। मोक्ता–√मुच् ७ उ० 'क़ैद से छोड़ना, 'छोड़ देना' मैं क़ैद से छोड़ दूँगा, हम इसे भोक्तृ का कर्ता एक० नहीं ले सकते, क्योंकि तृ से बनी संज्ञा कर्ता का कर्त्तव्य, स्वभाव, अनुभव आदि बताती है (आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्म-तत्साधुकारिषु पा० ३. २. १३४)। [आर्या वृत्त]

हिन्दी—यदि पूजनीय आप बन्दी किये हुये मेरे साले मौर्य-सचिव को छोड़ देंगे तो मैं भी माधवसेन को बन्धन से शीघ्र ही छोड़ दूँगा। [७]

राजा—(सरोषम्) कथं कार्य-विनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहतक ! प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः तद् यातव्य-पक्षे स्थितस्य पूर्व-संकलिपत-समुन्मूलनाय वीरसेन-प्रमुखं दण्ड-चक्रमाज्ञापय।*

अमात्यः—यदाज्ञापयति देवः।

---

*कार्य-विनिमय—बदले का काम. व्यवहरति–बर्ताव करता है. अनात्मज्ञ—अपने आपको न जानने वाला, मूर्ख. प्रकृत्यमित्र—स्वभाव से शत्रु. यातव्य—आक्रमण करने योग्य, शत्रु. संकलिपत—विचार किये गये. समुन्मूलन—जड़ से उखाड़ देना. दण्ड-चक्र—सेना का भाग. शास्त्र-दृष्ट—शास्त्रानुसार.

कार्य-विनिमयेन मयि व्यवहरति—'व्यवहार' की अर्थ-सूचक धातुओं के साथ तृतीया वा सप्तमी का प्रयोग होता है। अनात्मज्ञः—आत्मानं जानातीति आत्मज्ञः, आत्मन्+ज्ञा+अ; न आत्मज्ञः (नञ् तत्पु०)। प्रतिकूलकारी कूलात् प्रतीपम् इति प्रति-कूलम् (अव्ययी०); तथा करोति इति तच्छीलः (प्रतिकूल+कृ+इन्=णिनि ; सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये पा० ३. २. ७८); शत्रुभाव से काम करना। यातव्य-पक्षे—यातुम् (=अभियातुम् 'आक्रमण किये जाने योग्य') योग्यः यातव्यः (√या २पर०+तव्य), स च असौ पक्षः, (कर्म०), वा यातव्यानां पक्षः (तत्पु०), तस्मिन्। पूर्व-संकलिपत-समुन्मूलनाय—पूर्वं संकलिपतम् (केवलसमास; सुप्सुपा० वा २. १. २. और ४) पूर्वसंकलिपतं च तत् समुन्मूलनं च (कर्म०); तस्मै। प्रतीत होता है कि अग्निमित्र पड़ोसी राजा यज्ञसेन को स्वभाव से शत्रु मान कर उसे जड़ से उखाड़ डालना चाहता था और किसी बहाने की ही प्रतीक्षा में था। वीरसेन-प्रमुखम्—वीरसेनः प्रमुखः यस्य तत् (बहु०)। दण्ड-चक्रम्—दण्डस्य चक्रम्, तत् सब अंगों से युक्त सेना, वा दण्डस्य (दंड देने के लिए) चक्रम् (तत्पु०)।

राजा—(सक्रोध) क्या वह मूर्ख मेरे साथ अदला-बदला करना चाहता है। वाहतक ! विदर्भ-राज मेरा स्वभाव से शत्रु और अहितकर है। इसलिए आक्रमण के योग्य विपक्ष के पूर्व-निश्चित समूल नाश के लिए वीरसेन की अध्यक्षता में सेनाओं को आज्ञा दो।

मन्त्री—जो महाराज की आज्ञा।

राजा—अथ वा किं भवान् मन्यते ।†

अमात्यः—शास्त्र-दृष्टमाह देवः । कुतः,

अचिराधिष्ठित-राज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढ-मूलत्वात् ।
नव-संरोहण-शिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ ८ ॥

---

†अथवा किं...—यह वाक्य बताता है कि राजा मन्त्रियों से हर बात पर परामर्श लेता था ।

राजा—अथवा आप क्या विचार करते हैं ?

शास्त्रदृष्टम्—(१) इसके कई अर्थ हो सकते हैं :—(१) शास्त्रेण दृष्टम् (तत्पु०), राजनीति शास्त्र द्वारा अनुमोदित; (२) शास्त्रस्य दृष्टम् (तत्पु०), राजनीति-शास्त्र का मत वा (३) शास्त्रे दृष्टम् (तत्पु०), राजनीतिशास्त्र में कहे आदेशानुसार.

मन्त्री—महाराज राजनीति शास्त्रों के आदेशानुसार ही कह रहे हैं । क्योंकि–

अन्वयः—अचिराधिष्ठित-राज्यः शत्रुः प्रकृतिषु अरूढ-मूलत्वात् नव-संरोहण-शिथिलः तरुः इव समुद्धर्तुं सुकरः ।

श०—अचिराधिष्ठित-राज्यः—अभी-अभी जिसने राज्य पाया है. प्रकृति—प्रजा. अरूढ-मूल—जिसकी जड़ जमी नहीं, जिसका प्रजा पर विश्वास नहीं जमा. नव-संरोहण-शिथिल—नए लगाए जाने से शिथिल. समुद्धर्तुम्—उखाड़ने के लिए.

टि०—अचिराधिष्ठित-राज्यः—अचिरात् अधिष्ठित (स्थापित) अचिराधिष्ठितम् (केवल समास) तथा राज्यं येन सः (बहु०) । प्रकृतिषु—इस अर्थ में यह शब्द बहु० में प्रयुक्त होता है । अरूढ-मूलत्वात्—रूढं मूलं येन यस्य वा स रूढमूलः (बहु०), न तथा (नञ् तत्पु०); वा न रूढम् अरूढम् (नञ् तत्पु०), तथा मूलं यस्य सः (बहु०) ; अरूढमूलस्य भावः अरूढ-मूलत्वम्, तस्मात् । नव-संरोहण-शिथिलः—नवं संरोहणं नवसंरोहणम् (कर्म०), तेन शिथिलः । सुकरः—सुष्ठु क्रियते इति (ईषद्-दुः-सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् पा० ३. ३. १२६) । समुद्धर्तुम्—सम्+उद्+√हृ 'ले जाना'+ तुम् (तुमुन्) । [आर्या वृत्त]

राजा—तेन ह्यवितथं तन्त्रकार-वचनम् । इदमेव निमित्तमादाय समुद्योज्यतां सेनापतिः ।*

अमात्यः—तथा । (इति निष्क्रान्तः) †

(परिजनश्च यथा-व्यापारं राजानमभितः स्थितः) ‡

(प्रविश्य)

हिन्दी—नये बोये जाने के कारण उस शिथिल वृक्ष की तरह वह शत्रु, जिसकी जड़ प्रजा में अभी नहीं जमी, और जो थोड़ी देर से ही राजगद्दी पर बैठा है, सहज में नष्ट किया जा सकता है।　　　[८]

*अवितथम्—सच, जो झूठ नहीं. तन्त्रकार—राजनीति शास्त्र का कर्ता. निमित्त—बहाना, कारण बना कर. तेन—इसलिए; आरम्भ में तेन का अर्थ होता है 'तब', वा 'यदि ऐसे है...तो'; देखो, तेन हि त्वरतां भवान् पृष्ठ ८। हि—अ० अवश्यमेव, निःसन्देह। अवितथम्—विगतं तथा (=सत्यं) यस्मात् तद् वितथम् (बहु०); जो सचाई से दूर है; झूठ; न वितथम् अवितथम् (नञ् तत्पु०); सच। वचनम्—शब्द 'नियम' अर्थ में 'वचन' से लेने की आवश्यकता नहीं'. इदम्—यह, अर्थात् उत्तर। समुद्योज्यताम्—सम+उद्+√युज् ७उ० + णिजन्त लोट् कर्म-वाचक; विरुद्ध भेजना चाहिए.

राजा—राजनीति शास्त्र के कर्ता का कथन सत्य ही है। यही बात बहाना बनाकर सेनापति को उसके विरुद्ध भेज दिया जाय।

†तथा—ज्ञात शब्दों सहित पूरा वाक्य होगा—यथा देव आज्ञापयति तथा करिष्यते.

मन्त्री—जो आज्ञा !

[प्रस्थान

‡यथा-व्यापारम्—व्यापारम् अनतिक्रम्य इति (अव्ययी०): कर्त्तव्य अनुसार. राजानम्—यहां द्वितीया का प्रयोग अभितः के कारण हुआ है। (अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि वा० २. ३. २).

(सेवक अपने कर्तव्य अनुसार राजा के आस-पास खड़े होते हैं)

(विदूषक का प्रवेश)

विदूषकः—आणत्तो म्हि तत्तहोदा रण्णा। गोदम, चिन्तेहि दाव उवाअं, जहा मे जदिच्छादिट्ठप्पदिकिदी मालविआ पच्चक्खदंसणा होदित्ति। मए वि तत्तहा किदं। जाव से णिवेदेमि। [आज्ञप्तोऽस्मि तत्रभवता राज्ञा 'गौतम ! चिन्तय तावदुपायम्, यथा मे यदृच्छा-दृष्ट-प्रतिकृतिर्मालविका प्रत्यक्ष-दर्शना भवति' इति। मयापि तत्तथा कृतम्। यावदस्मै निवेदयामि।]†
(इति परिक्रामति)

राजा—(विदूषकं दृष्ट्वा) अयमपरः कार्यान्तर-सचिवोऽस्मानुपस्थितः।‡

विदूषकः—(उपसृत्य) वड्ढदु भवं। [वर्धतां भवान्।]

राजा—(सशिरःकम्पम्) इत आस्यताम्।

(विदूषक उपविष्टः)

---

†यदृच्छा—अकस्मात. प्रतिकृति—तसवीर.

यदृच्छा-दृष्ट-प्रतिकृतिः—यदृच्छया दृष्टा प्रतिकृतिः यस्याः सा (बहु०)। प्रत्यक्ष-दर्शना—अक्षं (इन्द्रियं) प्रतिगतं प्रत्यक्षम् (प्रादि तत्पु० अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया वा २. २. १८); प्रत्यक्षं दर्शनं यस्याः सा।

विदूषक—मान्यवर महाराज द्वारा मुझे आज्ञा हुई है कि गौतम ! तो कोई उपाय सोचो, जिससे तसवीर में अकस्मात देखी गई मालविका मेरी आँखों के सामने आ जाय। मैंने भी वैसा ही किया है। तो मैं उन्हें निवेदन करता हूँ।

(घूमता है)

‡कार्यान्तर—(राजनीतिक कामों से) भिन्न काम. सचिव—मन्त्री.

कार्यान्तरसचिवः—अन्यत् कार्यं कार्यान्तरम् (कर्म०); तस्मिन् सचिवः (तत्पु०); (राजनीति के अतिरिक्त) दूसरे कार्यों का मन्त्री।

राजा—(विदूषक को देखकर) यह हमारा दूसरे कार्यों का मन्त्री आ पहुँचा।

विदूषक—(पास पहुँचकर) महाराज की वृद्धि हो !

राजा—(सिर हिलाकर) यहाँ बैठिये।

(विदूषक बैठकर)

राजा—वयस्य ! कच्चिदुपेयोपाय-दर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञा-चक्षुः । *

विदूषकः—पओअसिद्धिं पुच्छ । [प्रयोग-सिद्धिं पृच्छ ।]‡

राजा—कथमिव ।

विदूषकः—(कर्णे) एव्वं विअ । [एवमिव] ※

राजा—साधु वयस्य ! निपुणमुपक्रान्तम् । इदानीं दुरधिगम-सिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयमाशंसामहे । कुतः, †

---

*उपेय—प्रापणीय, साध्य. व्यापृत—लगी हुई. प्रज्ञा-चक्षुस्—बुद्धि रूपी नेत्र.

कच्चित्—अ० हाँ-सूचक उत्तर की आशा पर इसका प्रयोग होता है। आशा करता हूँ। उपेय—उप+√इ जाना (इण्)+य (यत्); पाने योग्य; पहुँचने योग्य। दर्शने—देखने में; ढूंढने में। व्यापृतम्—वि+आ+√पृ ६ आ० 'व्यायामे व्यापारे च' +क्त। प्रज्ञा-चक्षुः—प्रज्ञा चक्षुः इव (जब दर्शन का अर्थ ढूंढना हो) अथवा प्रज्ञा एव चक्षुः (जब दर्शन का अर्थ देखना हो)।

राजा—मित्र ! मैं आशा करता हूँ कि साधनीय वस्तु के (पाने के) उपाय को तुम्हारी बुद्धि-रूपी आँख ढूँढने में लगी है।

‡प्रयोग—अभ्यास में लाया गया उपाय; यह शब्द कल्पना-सम्बन्धी भाग की अपेक्षा अभ्यासिक भाग की ओर ज़ोर देता है।

विदूषक—बल्कि उपाय की सिद्धि (के विषय में) पूछें।

राजा—कैसे ?

※एवमिव—गौतम राजा के कान में कुछ कहता है। यह किसी और को सुनाई नहीं देता। अन्त में वह 'एवमिव' कहता है।

विदूषक—(कान में)...ऐसे ऐसे।

†निपुणमुपक्रान्तम्—खूब शुरू किया. दुरधिगम—कठिनाई से पाना.

दुरधिगमसिद्धौ—दुःखेन अधिगम्यते इति दुरधिगम (ईषद्० पा०३.३.१२६); तादृशा सिद्धिः यस्य (वह०); तस्मिन्। आरम्भे—आरभ्यते इति आरम्भः (आ+√रभ् 'शुरू करना, आलिंगन करना'+अ=घञ् भावे पा० ३. ३. १८) कार्यं;

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥ ६ ॥

(नेपथ्ये)

---

†निपुणमुपक्रान्तम्—खूब शुरु किया. दुरधिगम—कठिनाई से पाने योग्य. दुरधिगमसिद्धौ—दुःखेन अधिगम्यते इति दुरधिगमा (ईषद्०पा० ३. ३. १२६); तादृशा सिद्धिः यस्य (बहु०), तस्मिन्। आरम्भे—आरभ्यते इति आरम्भः (आ+√रभ् 'शुरु करना, आलिंगन करना'+अ=घञ् ; भावे पा० ३. ३. १८); कार्य, उपक्रम। ,

राजा—शाबाश, मित्र ! खूब शुरू किया। मैं अब इस कार्य के विषय में आशा करने लगा हूँ , चाहे इसमें सिद्धि मिलना कठिन है।

अन्वयः—सप्रतिबन्धम् अर्थम् अधिगन्तुं सहायवान् एव प्रभुः। सचक्षुः अपि दीपेन विना तमसि दृश्यं न पश्यति।

श०—सप्रतिबन्ध—बाधा युक्त. अर्थ—उद्योग, प्रयोजन. अधिगन्तुम्—पाने के लिए. प्रभु—समर्थ. दृश्य—देखने योग्य वस्तु.

टि०—अर्थम्—वस्तु, आदर्श; इस शब्द के कई अर्थ हैं—मतलब, धन, वस्तु, तात्पर्य, हटाने योग्य वस्तु (मशकार्थो धूमः, ज्वरार्थमौषधम्), आदि। सप्रतिबन्धम्—प्रतिबन्धेन सह (बहु०); बाधाओं युक्त (यहां तात्पर्य धारिणी और इरावती दोनों रानियों से है)। प्रभुः—प्रभवति इति, समर्थ। सहायवान्—सहायः अस्य अस्ति इति (सहाय+मत्=मतुप् ; तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् पा० ५.२.९४; मादुपधायाश्च मतोर्वो० पा० ८. २. ९); सहायता वाला, साधन युक्त। सचक्षुः—चक्षुषा सह (बहु०)। [आर्या वृत्त]

हिन्दी—केवल सहायता वाला ही विघ्न वाले पदार्थ को प्राप्त कर सकता है, जैसे नेत्र वाला भी दीपक के बिना अन्धेरे में कोई वस्तु नहीं देख सकता। [६]

(नेपथ्य में)

अलमलं बहु विकत्थ्य । राज्ञः समक्षमेवावयोरधरोत्तरव्यक्ति-र्भविष्यति ।*

राजा—(आकर्ण्य) सखे ! त्वत्सुनीति-पादपस्य पुष्पमुद्भिन्नम् ।†

विदूषकः—फलं वि अइरेण देक्खिस्सस्सि । [फलमप्यचिरेण द्रक्ष्यसि ।]‡

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

---

*अलमलम्—बस बस. विकत्थ्य—आत्मश्लाघा करके. अधर—छोटा. उत्तर—बड़ा. व्यक्तिः—प्रकट होना.

विकत्थ्य—वि + √कत्थ् 'प्रशंसा करना, डींग मारना'+य (=ल्यप् ; क्त्वा के बदले) अलम् और खलु के साथ—निषेध सूचक अर्थ में—क्रिया का प्रयोग क्त्वान्त में होता है । (अलं-खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा पा० ३. ४. १८) । समक्षम्—अक्ष्णोः समीपे (मल्लिनाथ के अनुसार वा) अक्ष्णोर्योग्यम् (तत्त्वबोधिनी और बालमनोरमा के अनुसार) समक्षम् (अव्ययी० ; सम् + अक्षि+अ; आँखों के सामने । अधरोत्तरव्यक्तिः—अधरं च उत्तरं च अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे वा (द्वन्द्व; विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य० पा० २. ४. १२), तस्य तयोः वा व्यक्तिः (तत्पु०) ।

अनुवाद—बस, बस, बहुत डींग मत मारो । राजा के सामने ही छोटाई-बड़ाई प्रकट होगी ।

†त्वत्सुनीति-पादपस्य—शोभना नीतिः सुनीतिः (प्रादिकर्म०), तव सुनीतिः त्वत्सुनीतिः (तत्पु०) ; सा एव पादपः सुनीतिपादपः, तस्य । पुष्पम्—इससे नृत्याचार्यों के झगड़े की ओर संकेत है । उद्भिन्नम्—उद्+√भिद् 'पृथक् करना'+त (क्त); 'द्' और 'त' दोनों 'न्' में बदले जाते हैं (र-दाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः पा० ८. २. ४२)

‡फलम्—इसका संकेत राजा के मनोरथ (मालविका को देखने) की ओर है ।

विदूषक—फल भी जल्दी देखोगे ।

कञ्चुकी—कञ्चुकः (चोगा) अस्य अस्ति इति (कञ्चुक+इन=इनि; अत इनिठनौ पा० ५. २. ११५)

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—देव ! अमात्यो विज्ञापयति, 'अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा' इति। एतौ पुनर्हरदत्तगणदासौ

उभावभिनयाचार्यौ परस्पर-जयोद्यतौ।
त्वां द्रष्टुमिच्छतः साक्षाद् भावाविव शरीरिणौ ॥ १० ॥

राजा—प्रवेशय तौ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य पुनस्ताभ्यां सह प्रविश्य) इत इतो भवन्तौ।

हरदत्तः--(राजानमवलोक्य) अहो ! दुरासदो राज-महिमा। तथा हि,*

कञ्चुकी—राजन् ! मन्त्री निवेदन करता है कि आप की आज्ञा का पालन हो गया। ये हरदत्त और गणदास—

अन्वयः—परस्पर-जयोद्यतौ उभौ अभिनयाचार्यौ साक्षात् शरीरिणौ भावौ इव त्वां द्रष्टुम् इच्छतः।

श०--अभिनय—नाट्य. भाव—रस. शरीरिन्—शरीरधारी, मूर्तिमान्.

टि०—अभिनयाचार्यौ--आचार्य का अर्थ होता है, 'भारी विद्वान्, भारी शिक्षक' अभिनयस्य आचार्यौ (तत्पु०)। परस्पर-जयोद्यतौ—परस्य परस्य इति परस्परस्य (परस्य+परस्य ; कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम् वा० ८. १. १२ और असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः वा० ८. १. १२; कस्कादिषु च पा० ८. ३. ४८) ; परस्परस्य जयः (तत्पु०), तस्मिन् उद्यतौ (तत्पु०)। शरीरिणौ—शरीरम् अनयोः अस्ति (शरीर+इन्) तौ। [अनुष्टुप् वृत्त]

हिन्दी--एक दूसरे को जीतने की इच्छा करने वाले दोनों नाट्याचार्य (गणदास और हरदत्त) शरीरधारी भावों की तरह आपके दर्शन करना चाहते हैं। [१०]

राजा—दोनों को ले आओ।

कञ्चुकी--जो महाराज आज्ञा दें। (बाहर जाकर फिर उनके साथ प्रवेश करके) इधर आइये, इधर महानुभाव !

*दुरासद--दुष्प्रापणीय, भयानक.

न च न परिचितो न चाप्यगम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य ।
सलिल-निधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः ॥११॥

गणदासः--महत् खलु पुरुषाकारमिदं ज्योतिः । तथा हि,*

दुरासदः—दुः (=दुःखेन) आसाद्यते इति (दुर+आ√+सद्+अ=खल्) ।

हरदत्त--(राजा को देख कर) अहो ! राजा की महिमा की थाह किसी से पाई नहीं जा सकती ।

अन्वयः—अयं परिचितः न च (इति) न; अगम्यः अपि च न । तथापि चकितम् अस्य पार्श्वम् उपैमि । सलिल-निधिः इव स अयं प्रति-क्षणं मे अक्ष्णोः नवः नवः भवति ।

श०—परिचित--जान-पहचान का, वाकिफ़. अगम्य--पहुँच से बाहर. चकित--डरा हुआ. सलिल-निधि—समुद्र.

टि०--अगम्यः—गन्तुम् अर्हः गम्यः (गम्+य=यत्; देखो, पोरदुपधात् पा० ३. १. ९८ और अर्हे कृत्यतृचश्च पा० ३. ३. १६९); न गम्यः (नञ् तत्पु०) न चाप्यगम्यः--हर तरह पहुंच के योग्य है । सलिलनिधिरव--सलिलस्य निधिः सलिलनिधिः (तत्पु०), सलिलनिधिरिव केवलसमास है, इसमें कोई विग्रह-वाक्य नहीं है । (इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च वा० २. १. ४) हर समय उछलती लहरों के कारण समुद्र दर्शक के लिए नये से नया दृश्य उपस्थित करता है । प्रतिक्षणम्—क्षणं क्षणम् इति (अव्ययी०) । नवो नवः--नये से नया, अर्थात् अति-रमणीय । [पुष्पिताग्रा वृत्त]

हिन्दी--यह अपरिचित भी नहीं और यह भी नहीं कि इस तक पहुँच न हो सके, फिर भी इसके पास जाने में मुझे डर-सा लगता है । समुद्र की तरह यह मेरी आँखों को प्रतिक्षण नया-सा ही दिखाई देता है । [११]

* ज्योतिस्--चमक, रौशनी.

पुरुषाकारम्--पुरुषस्य आकारः पुरुषाकारः (तत्पु०), पुरुषाकार इव आकारः यस्य तत् (बहु०; सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वा०) ।

गणदास--इसका रूप में यह तो बड़ी भारी ज्योति है । क्योंकि,

द्वारे नियुक्त-पुरुषानुमत-प्रवेशः
सिंहासनान्तिक-चरेण सहोपसर्पन् ।
तेजोभिरस्य विनिवर्तित-दृष्टिपातै-
र्वाक्याद् ऋते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि ॥ १२ ॥

अन्वयः—द्वारे नियुक्त-पुरुषानुमत-प्रवेशः सिंहासनान्तिक-चरेण सह उपसर्पन् (अहं) वाक्यात् ऋते विनिवर्तित-दृष्टि-पातैः अस्य तेजोभिः पुनः प्रतिवारितः इव अस्मि।

श०—**नियुक्त**—नियत किया गया. **अनुमत**—आज्ञा दिया गया. **उपसर्पत्**—पास जाता हुआ. **विनिवर्तित**—रुकवा दिया गया. **दृष्टिपात**—नज़र का पड़ना. **प्रतिवारित**—रोक दिया गया.

टि०—द्वारे—इस शब्द का नियुक्त के साथ सम्बन्ध है, इसलिए द्वारे शब्द नियुक्त० वाले समास का पहला शब्द ही होना चाहिए था, किन्तु समास का इसके बिना भी विधान है, क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही जाना जा सकता है, चाहे यह अलग भी हो.जैसे कि हम 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' में देखते हैं। नियुक्त-पुरुषानुमत-प्रवेशः—नियुक्तः पुरुषः (कर्म०), तेन अनुमतः (तत्पु०), स प्रवेशः यस्य सः (बहु०)। सिंहासनान्तिकचरेण—सिंहाकारम् आसनम् (कर्म०; शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् वा० २. १. ६०); अथवा सिंह इव आसनम् (कर्म०; राजा का आसन प्रायः भद्रासन कहा जाता है, किन्तु यदि सोने का बना हो तो सिंहासन कहलाता है) अन्तिके चरति इति अन्तिकचरः (अन्तिक + √चर् + अ(=ट; चरेष्टः पा० ३.२. १६); सिंहासनस्य अन्तिकचरः (तत्पु०), तेन। सह के साथ तृतीया का प्रयोग होता है। (सहयुक्तेऽप्रधाने पा० २.३. १६)। विनिवर्तित-दृष्टिपातैः—विनिवर्तिताः=वि + नि + √वृत् 'होना' + त (क्त); विनिवर्तिताः दृष्टिपाताः यैः ते (बहु०), तैः। वाक्याद् ऋते—णिजन्त ऋते के साथ पञ्चमी का प्रयोग होता है। (अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते पा० २.३. २६)। पुनः—अ० तब भी। इव—अ०, मानो; यह शब्द ठीक स्थान पर नहीं है; प्रतिवारितः के बाद चाहिए (अक्रमतादोषः)। यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। [वसन्ततिलका वृत्त]

हिन्दी—द्वार पर खड़े किये हुए पुरुष (द्वारपाल) से प्रवेश करने की

कञ्चुकी--एष देवः। उपसर्पतां भवन्तौ।

उभौ—(उपेत्य) विजयतां देवः।

राजा—स्वागतं भवद्भ्याम् (परिजनं विलोक्य) आसने तावदत्रभवतोः।†

(उभौ परिजनोपनीतयोरासनयोरुपविष्टौ)

राजा—किमिदं शिष्योपदेश-काले युगपदाचार्ययोरुपस्थानम्।*

गणदासः—देव ! श्रूयताम्—मया सुतीर्थादभिनय-विद्या शिक्षिता। दत्तप्रयोगश्चास्मि। देवेन देव्या च परिगृहीतः।‡

आज्ञा मिलने पर सिंहासन के पास घूमने वाले मनुष्य के साथ जाते हुए भी मुझे इस राजा की आँखों को चकाचौंध करने वाला तेज बिना कहे हुए ही रोक-सा रहा है। [१२]

कञ्चुकी—ये हैं महाराज ! आप आगे बढ़ें।

दोनों—(पास जाकर) महाराज की जय हो !

†स्वागतं भवद्भ्याम्—स्वागतम् के साथ चतुर्थी का प्रयोग होता है। तावत्—अ०, सब से पहले, अभी, तुरन्त।

राजा—आपका स्वागत हो ! (भृत्य-वर्ग की ओर देखकर) महानुभावों के लिए आसन शीघ्र लाओ।

(सेवकों द्वारा लाये गये आसनों पर दोनों बैठते हैं)

* युगपत्—सहसा. उपस्थान—आना. तीर्थ—शिक्षक. प्रयोग—अनुष्ठान. परिगृहीत—अनुगृहीत.

राजा—शिष्या को शिक्षा देने के समय सहसा आचार्यों का यहाँ दर्शन कैसे !

‡सुतीर्थात्—अच्छे शिक्षक द्वारा; शोभनं तीर्थं सुतीर्थम् (कर्म०), तस्मात्। दत्तप्रयोगः—दत्तः प्रयोगः येन सः (बहु०)। गणदास कहता है कि मैंने केवल सुयोग्य शिक्षा द्वारा शिक्षा ही नहीं पाई वरञ्च मैं एक अनुभवी और सफल शिक्षक भी हूँ। परिगृहीतः—परि + √ग्रह् ९ उ० 'पकड़ना' + त (क्त)।

गणदास--महाराज ! सुनिये, मैंने अच्छे आचार्य से अभिनय विद्या की शिक्षा पाई है और मैं एक अनुभवी तथा सफल अध्यापक हूँ तथा महारानी का

राजा—दृढं जाने । ततः किम् ।

गणदासः—सोऽहममुना हरदत्तेन प्रधान-पुरुष-समक्षं 'नायं मे पाद-रजसापि तुल्यः' इत्यधिक्षिप्तः । †

हरदत्तः—देव ! अयमेव मयि प्रथमं परिवाद-करः । अत्रभवतः किल मम च समुद्र-पल्वलयोरिवान्तरमिति । तदत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु । देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः । ‡

मुझ पर अनुग्रह भी है ।

राजा—ख़ूब जानता हूँ । फिर क्या ?

† अधिक्षिप्त—तिरस्कृत.

सोऽहम्—ऐसा मैं; तद् यहाँ प्रक्रान्तपरामर्शक, अर्थात् यह ऐसे विषय की ओर संकेत करता है जो वर्णन किया जा चुका है और अभी उसका वर्णन होना है । (देखो, सोऽहमाजन्मशुद्धानाम् रघु० १. ५)। प्रधान-पुरुष-समक्षम्—प्रधानाः च ते पुरुषाः च (कर्म०), तेषां समक्षम् (तत्पु०)। पाद-रजसा तुल्यः—समानता सूचक शब्द के साथ (तुला और उपमा को छोड़ कर) तृतीया व षष्ठी का प्रयोग होता है । (तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् पा० २. ३. ७२).

गणदास—ऐसा मैं इस हरदत्त द्वारा बड़े-बड़े सभासदों के सामने यह कह कर तिरस्कृत किया गया हूँ कि यह मेरे पैर की धूलि बराबर भी नहीं है ।

‡परिवाद—निन्दा. पल्वल—छोटा तालाब. अन्तर—भेद. शास्त्र—सिद्धान्त. विमृशतु—विचार करें. विशेषज्ञ—निर्णायक. प्राश्निक—परीक्षक.

परिवाद—परि + √वद् 'बोलना' + अ (घञ्); निन्दा शब्द का दूसरा रूप है 'परीवाद' । अत्रभवतः—अत्रभवत् आदर-सूचक शब्द है और इसके अर्थ हैं:—'योग्य', 'माननीय', 'आप महानुभाव', वा 'वह महानुभाव', और उस पुरुष को संकेत करता है जो विद्यमान है व वक्ता के पास है । समस्त पद के वही अर्थ हैं, किन्तु उस पुरुष के लिए प्रयुक्त होता है जो वक्ता के पास विद्यमान नहीं । इति—अ०, इसका संकेत परिवाद की ओर है । तद्—अ०, अतः । विमृशतु—वि + √मृश् ६ पर० 'छूना' लोट् ; √मृश् का अर्थ वि के साथ 'विचारना, सोचना,' हो

विदूषकः--समत्थं पइएणादं। [समर्थं प्रतिज्ञातम् ।]‡

गणदासः--प्रथमः कल्पः । अवहितो देवः श्रोतुमर्हति । *

राजा--तिष्ठतु तावत ! पक्षपातमत्र देवी मन्यते । तत्तस्याः पण्डित-कौशिक्या सहितायाः समक्षमेव न्याय्यो व्यवहारः ।†

जाता है। विशेषतः—विशेषं (भेदं) जानाति इति; फ़रक को जानने वाला। प्राश्निकः—प्रश्न + इक; न्यायाधीश।

हरदत्त—राजन् ! इसी ने मुझे पहले बुरा-भला कहा है कि आपमें और मेरे में समुद्र और तालाब का-सा अन्तर है। इसलिए आप महाराज इसे और मुझे नाट्य-शास्त्र और प्रयोग में परखें। महाराज ही हमारे पारखी और मध्यस्थ हों।

‡समर्थम्—उचित, युक्त, ठीक. प्रतिज्ञातम्—प्रस्ताव.

समर्थम्--अ०, युक्तिपूर्ण, यह शब्द विशेषण भी चाहे ले लिया जाय और इसका अर्थ तब होगा 'उचित'। प्रतिज्ञाम्---प्रति + ज्ञा + क्त; प्रस्तावित; त (क्त) प्रत्यय को यदि नपुंसक संज्ञा (नपुंसके भावे क्तः पा० ३. ३. ११४) में लिया जाय तो इसका अर्थ होगा 'प्रतिज्ञा', 'प्रस्ताव'।

विदूषक—बड़ा उचित प्रस्ताव है।

*प्रथमः कल्पः—बड़ा बढ़िया विचार. अवहितः—दत्तचित्त, सावधान.

प्रथमः कल्पः--संकेतित मार्ग कल्पः श्रेष्ठ है; इससे और कोई मार्ग अच्छा नहीं। देखो, 'प्रथमः कल्पः' शकुन्तला ७, मातलि की उक्ति।

गणदास--बहुत ठीक है। महाराज ज़रा सावधान होकर सुनें।

† पक्षपात—तरफ़दारी. न्याय्य--न्याय-युक्त. व्यवहार--अभियोग.

तिष्ठतु तावत्--तो ज़रा रहने दो, अर्थात् क्षण भर रुक जाओ। मन्यते--लट् लकार यहां विधिलिङ् (मन्येत) अथवा भविष्य (मंस्यते) के लिए प्रयुक्त हुआ है। पण्डित-कौशिक्या--पण्डिता च असौ कौशिकी च पण्डितकौशिकी (कर्म०), तयाः। यहां पण्डिता (स्त्री० शब्द) पण्डित पुं० हो गया है। (स्त्रियाः पुंवद्भाषित-पुंस्कादः० पा० ६. ३. ३४)। न्याय्यः--न्यायाद् अनपेतः (न्याय + य = यत्; धर्म-पथ्यर्थ-न्यायादनपेते पा० ४. ४. ९२); न्याय से हटा हुआ नहीं, ठीक, उचित।

विदूषकः—सुट्ठु भवं भणादि। [सुष्ठु भवान् भणाति।]

आचार्यौ—यद्देवाय रोचते।*

राजा—मौद्गल्य ! अमुं प्रस्तावं निवेद्य पण्डित-कौशिक्या सार्धमाहूयतां देवी।†

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः ! (इति निष्क्रम्य सपरिव्राजिकया देव्या सह प्रविष्टः) इत इतो देवी।

धारिणी—(परिव्राजिकां विलोक्य) भअवदि, हरदत्तस्स गणदासस्स अ संरम्भे कहं पेक्खसि। [भगवति ! हरदत्तस्य गणदासस्य च संरम्भे कथं पश्यसि।] ‡

व्यवहार:—छान-बीन और अभियोग का निर्णय।

राजा—ज़रा रुक जाओ। रानी यहाँ तरफ़दारी समझेगी। इसलिए पण्डित कौशिकी के साथ उसके सामने ही इस अभियोग की छान-बीन की जाय।

विदूषक—आप ठीक कहते हैं।

*देवाय—राजा को; रुच् और इसी अर्थ वाली धातुओं के साथ प्रसन्न अथवा संतुष्ट होने वाले पुरुष के लिए चतुर्थी विभक्ति लगती है। (रुच्यर्थानां प्रीयमाणः पा० १. ४. ३३)।

नाट्याचार्य—जो महाराज की आज्ञा।

†प्रस्तावम्—हाथ में लिया विषय, √स्तु 'प्रशंसा करना' के साथ जब उपसर्ग हो तो इसका अर्थ हो जाता है 'आरम्भ करना'।

राजा—मौद्गल्य ! इस विषय को (रानी को) बता कर पण्डित कौशिकी के संग रानी को बुला लाओ।

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा ! (यह कह कर प्रस्थान और परिव्राजिका के साथ रानी को लिए प्रवेश) इधर, इधर, रानी !

‡ संरम्भ—झगड़ा.

परिव्राजिका—नाटकों में स्त्रियों की भाषा प्राकृत होती है, किन्तु तपस्विनियों द्वारा संस्कृत बोली जाती है।

परिव्राजिका—अलं स्वपक्षावसाद-शङ्कया। न परिहीयते प्रतिद्वन्द्विनो गणदासः।†

धारिणी—जइवि एव्वं तह वि राअपरिग्गहो से पहाणत्तणं उवहरइ। [यद्यप्येवं तथापि राज-परिग्रहोऽस्य प्रधानत्वमुपहरति।] *

परिव्राजिका—अयि, राज्ञी-शब्द-भाजनमात्मानमपि तावच्चिन्तयतु भवती। पश्य, ‡

कथं पश्यसि—क्या अनुमान लगाती हो ? (शब्दार्थ होगा 'तुम क्या देखती हो') अर्थात् तुम्हारे विचार में कौन जीतेगा ?

धारिणी—(परिव्राजिका की ओर देख कर) पूजनीये ! हरदत्त और गणदास के झगड़े में क्या विचार है ?

†अवसाद—पराजय. परिहीयते—न्यून है. प्रतिद्वन्द्विन्—विरोधी, वैरी.

स्वपक्षावसाद-शङ्कया—स्वः च असौ पक्षः च (कर्म०), अपना आश्रित, अर्थात् गणदास, स्वपक्षस्य अवसादः (नाश वा हानि, यहां 'पराजय'; तत्पु०) स्वपक्षावसादस्य शङ्का (तत्पु०), तया। परिहीयते—√हा ३ पर० 'छोड़ना' परि + √हा को णिजन्त और इस अर्थ में पञ्चमी होती है। प्रतिद्वन्द्विनः—द्वन्द्वम् (कुश्ती) अस्य अस्ति इति द्वन्द्वी, प्रतिगतः द्वन्द्वी प्रतिद्वन्द्वी; तस्मात्, शत्रु से।

परिव्राजिका—अपने पक्ष की पराजय की शंका मत करो। गणदास अपने विरोधी से कम नहीं है।

* परिग्रह—भेंट. उपहरति—भेंट करता है, देता है.

अस्य प्रधानत्वमुपहरति—√हृ 'ले जाना'; उप + √हृ 'लाना,' इसे प्रधानता दिलाती है।

धारिणी—चाहे यह ऐसे है, तब भी राजा की कृपा-दृष्टि इसे बड़प्पन दिलाती है।

‡भाजनम्—नपुं०, पात्र। आत्मानम्—पु०; अपने आपको; इस अर्थ में तीनों वचनों में एकवचन पुलिंग में यह शब्द प्रयुक्त होता है, चाहे संकेतित व्यक्ति का कुछ ही लिंग और वचन क्यों न हो। परिव्राजिका का मतलब है कि गणदास भी

अतिमात्र-भासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः ।
अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशा-परिगृहीतः ॥१३॥

विदूषकः--अविहा अविहा । उवठ्ठिदा पीठमद्दिअं पण्डिअकोसिइं पुरोकरिअ देवी धारिणी । [अपिहा अपिहा । उपस्थिता पीठमर्दिकां पण्डित-कौशिकीं पुरस्कृत्य देवी धारिणी ।]*

राजा--पश्याम्येनाम् । यैषा

मङ्गलालङ्कृता भाति कौशिक्या यति-वेषया ।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्म-विद्यया ॥१४॥

रानी का आश्रित होने से उतना ही बड़ा है ।

परिव्राजिका—अजी, ज़रा रानी की पदवी धारण करने वाली आप अपने आपका भी तो विचार करें । देखो,

अन्वयः—अनलः भानोः परिग्रहात् अतिमात्र-भासुरत्वं पुष्यति ; चन्द्रः अपि निशा-परिगृहीतः महिमानम् अधिगच्छति ।

श०—अनल—आग. **परिगृहीत**–अनुगृहीत. **अतिमात्र-भासुरत्वम्**–बहुत ज़्यादा चमक. **पुष्यति**--बढ़ाता है, प्रकट करता है.

टि०– अतिमात्र-भासुरत्वम्--मात्रामतिक्रान्तम् अतिमात्रम् (प्रादि तत्पु०) अतिमात्रं च तत् भासुरत्वम् (कर्म०) । पुष्यति--यहां उस प्रचलित विचार की ओर संकेत है कि सूर्य अस्त होते समय अपना तेज आग (और ग्रहों) में रख देता है: 'अग्नावोषधीषु च तेजो निधाय रविरस्तं याति' इत्यागमः । निशा-परिगृहीतः--निशया परिगृहीतः (तत्पु०) । [आर्या वृत्त]

हिन्दी—सूर्य के अनुग्रह से अग्नि की अत्यन्त उज्ज्वलता बढ़ जाती है । रात्रि के अनुग्रह से चन्द्रमा भी उज्ज्वल तेज को प्राप्त होता है । [१३]

* **पीठमर्दिका**--नायिका की साथिन.

विदूषक--अहह ! अपनी साथिन को आगे किये रानी धारिणी आ पहुँची।

राजा—मैं देख रहा हूँ । यह जो

अन्वयः--मङ्गलालङ्कृता (एषा) यति-वेषया कौशिक्या (समं) विग्रहवत्या अध्यात्म-

परिव्राजिका--(उपेत्य) विजयतां देवः ।+

राजा--भगवति ! अभिवादये । *

विद्यया समं त्रयी इव भाति ।

श०-मङ्गलालङ्कृता--शुभ भूषणों से भूषित. विग्रहवती-शरीर-धारिणी. अध्यात्म-विद्या--आत्मा-सम्बन्धी विद्या ।

टि०--मङ्गलालङ्कृता--मङ्गलं (शोभनं) यथा तथा अलङ्कृता, अथवा मङ्गलैः (=मङ्गलभूतैः आभरणैः) अलङ्कृता । मङ्गलार्थम् अलङ्कृता ठीक विग्रह नहीं है, क्योंकि इससे अर्थ शब्द के छोड़ने के लिए शाकपार्थिवादीनां सिद्धये (वा० २. १. ६०) का आश्रय लेना पड़ता है । इसके बिना यदि काम चल जाय तो अच्छा है। यति-वेषया--यतेः वेषः यतिवेषः ; यतिवेषः इव वेषः यस्याः सा यतिवेषा (बहु०), तया । त्रयी--त्रयः अवयवाः यस्याः सा त्रयी, वेद । देखो ,

त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि । (शत०)

श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः ।
स्त्रियाम् ऋक्-साम-यजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी ॥ (नामा० १. ६. ३)

विग्रहवत्या--विग्रहः अस्य अस्ति इति विग्रहवती, तया । अध्यात्म-विद्यया--आत्मनि अधि इति अध्यात्मम् (अव्ययी०, अधि+आत्मन्+अ=टच् ; अनश्च पा० ५. ४. १०८) अध्यात्मम् अस्याः अस्ति इति अध्यात्मा (अध्यात्म+अ=अच् +आ=टाप् ; अर्श आदिभ्योऽच् पा० ५. २. १२७) आत्मन् के विषय में अर्थात् परमात्मन् सम्बन्धी; अध्यात्मा च असौ विद्या च (कर्म०), तया ।

हिन्दी--शुभ भूषणों से भूषित रानी संन्यासिनी का वेश धारण करने वाली कौशिकी के साथ इस प्रकार शोभायमान हो रही है, जैसे शरीर-धारिणी अध्यात्म-विद्या के साथ वेद-त्रयी (ऋक्, यजुः, साम) । [१४]

+विजयताम्--√जि 'जीतना,' वैसे तो परस्मै० है किन्तु वि वा परा के साथ आत्मनेपद है । (वि-पराभ्यां जेः पा० १. ३. १६)

परिव्राजिका--(पास आकर) महाराज की जय हो !

* अभिवादये--अभि+√वद्+णिच्+लट्; प्रणाम करता हूँ ।

राजा--पूजनीये ! प्रणाम ।

परिव्राजिका—

महा-सार-प्रसवयोः सदृश-क्षमयोर्द्वयोः ।
धारिणी-भूत-धारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम ॥ १५ ॥

धारिणी— जेदु अज्जउत्तो । [जयत्वार्यपुत्रः ।]*

अन्वयः—महा-सार-प्रसवयोः सदृश-क्षमयोः धारिणी-भूत-धारिण्योः द्वयोः शरच्छतं भर्ता भव ।

श०—महा-सार-प्रसवा—(१) बलवान् वा श्रेष्ठ सन्तान वाली; बहुतायत से श्रेष्ठ उपज देने वाली. **सदृश-क्षमा**—सहनशीलता में समान. **धारिणी-भूत-धारिणी**—धारिणी और पृथ्वी, प्राणियों का आश्रय. **भर्ता**—स्वामी, पति. **शरच्छतम्**—सौ वर्ष (सौ शरद् ऋतु)

टि०—महा-सार-प्रसवयोः—महान् सारः (बलं) यस्य सः महासारः (धारिणी का विशेषण होने पर), वा महान् सारः (धनं) यस्य सः महासारः (बहु०); तादृशः प्रसवः (उपजे) ययोः ते (बहु०); वा, महासारस्य (वस्तुनः) प्रसवः (उत्पत्तिः) याभ्यां ते (बहु०); वा महासारस्य प्रसवौ (स्रोतौ) महासारप्रसवे (तत्पु०), तयोः । सदृश-क्षमयोः—सदृशी क्षमा ययोः ते (बहु०), तयोः । धारिणी-भूत-धारिण्योः—भूतानां धारिणी (तत्पु०) ; धारिणी च भूतधारिणी च धारिणीभूतधारिणी (द्वन्द्व०), तयोः । कवि लोग प्रायः राजाओं को पृथ्वी के पति के रूप में वर्णन करते हैं। (शकुं० ३.१७) इस पद्य में हमें धारिणी का पृथ्वी के साथ तुलना का संकेत मिलता है। (देखो, शकुं ५. ६) । शरच्छतम्—शरदां शतम् (तत्पु०), तत्; समय के साथ द्वितीया का प्रयोग होता है। (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे वा० २. ३.५).

हिन्दी— अति बलवान या अतिश्रेष्ठ सन्तान को उत्पन्न करने वाली रानी धारिणी के तथा बहुतायत से श्रेष्ठ उपज देने वाली और चर-अचर के धारण करने वाली पृथ्वी के, जो दोनों सहन शक्ति में समान हैं, आप सौ वर्ष तक स्वामी रहें। [१५]

*आर्यपुत्र शब्द में आर्य शब्द ससुर के लिए आदर भाव के कारण प्रयुक्त

राजा—स्वागतं देव्यै। (परिव्राजिकां विलोक्य) भगवति! क्रियतामासन-परिग्रहः।†

(सर्वे यथोचितमुपविशन्ति)

राजा—भगवति! अत्रभवतोर्हरदत्त-गणदासयोः परस्परं विज्ञान-संघर्षो जातः। तदत्र भगवत्या प्राश्निक-पदमध्यासितव्यम्। *

परिव्राजिका—(सस्मितम्) अलमुपालम्भेन। पत्तने विद्यमानेऽपि ग्रामे रत्न-परीक्षा।‡

राजा—मा मैवम्। पण्डित-कौशिकी खलु भगवती। पक्षपातिनावनयोरहं देवी च।**

हुआ है। इसलिए आर्यपुत्र का अर्थ पति है।

धारिणी—स्वामी की जय हो।

†स्वागतम्—शोभनम् आगतम् (प्रादि कर्म०)।

राजा—रानी का स्वागत हो! (परिव्राजिका को देखकर) पूजनीये! आसन पर विराजिए। (सब उचित क्रमानुसार बैठ जाते हैं)

* विज्ञान-संघर्ष—कला-विज्ञान सम्बन्धी कलह. प्राश्निक—विचारक.
विज्ञान-संघर्षः—विज्ञाने (प्रयोगविज्ञानोत्कर्षे) संघर्षः (तत्पु०)।

राजा—भगवति! मान्यवर हरदत्त और गणदास का आपस में कला-विज्ञान सम्बन्धी कलह हो गया है। अतएव आप न्यायाधीश के पद को सुशोभित करें।

‡ उपालम्भ—ताना, यहाँ अर्थ है उलाहना, हंसी-ठट्ठा.
पत्तने...इत्यादि—यह एक प्रसिद्ध कहावत है। कौशिकी का तात्पर्य है कि वह न्यायाधीश बनने के लिए असमर्थ है, विशेषकर जब कि महाराज जैसे विज्ञ व्यक्ति विराजमान हैं।

परिव्राजिका—(मुस्कराकर) मुझे बनायें नहीं। नगर पास होने पर भी क्या गाँव में रत्न की परख होती है?

**पक्षपातिनौ—पक्षे पातः पक्षपातः (तत्पु०), पक्षपातः अनयोः सञ्जातः इति।

आचार्यौ--सम्यगाह देवः । मध्यस्था भगवती गुण-दोषौ नः परिच्छेत्तुमर्हति । †

राजा--तेन हि प्रस्तूयतां विवादः । *

परिव्राजिका--देव ! प्रयोग-प्रधानं हि नाट्य-शास्त्रम । किमत्र वाग्व्यवहारेण । कथं वा देवी मन्यते ।‡

देवी--जइ मं पुच्छसि, एदाणं विवादो एव्व ण मे रोअदि । [यदि मां पृच्छसि, एतयोर्विवाद एव न मे रोचते ।]

गणदासः--देवी ! न मां समान-विद्यतः परिभवनीयमवगन्तुमर्हसि । ††

राजा--न, न, ऐसे नहीं । पण्डित कौशिकी पूजनीया हैं । मैं और रानी पक्षपाती हैं ।

† परिच्छेत्तुम्--निश्चय करने के लिए.

परिच्छेत्तुम्--अ०, परि+√छिद् 'काटना' √छिद् का अर्थ परि के साथ है 'चारों तरफ़ से काटना, पृथक् करना, सीमा बांधना' अतः 'पहचान करना, फ़रक जानना, ठीक-ठीक अनुमान लगाना' ।

दोनों आचार्य--महाराज ठीक कहते हैं । पूजनीया मध्यस्थ हैं, हमारे गुण-दोष परखना आपको उचित है ।

* प्रस्तूयताम्--पेश करो. विवाद--झगड़ा, कलह.

राजा--तो झगड़ा पेश करो ।

प्रयोगप्रधानम्--प्रयोगः (अभिनयः) प्रधानं (मुख्यम् अंगं) यस्य तत् (बहु०) । वाग्व्यवहारेण--वाचां (शब्दों का) व्यवहारः (बहस ; तत्पु०), तेन ।

परिव्राजिका--राजन् ! नाट्यशास्त्र में तो अभिनय मुख्य अंग है । यहां ज़बान की लड़ाई से क्या ? अथवा रानी क्या सोचती हैं ?

रानी--यदि मुझे पूछती हो तो मुझे इनका झगड़ा ही पसन्द नहीं ।

†† परिभवनीय--हारने योग्य. अवगन्तुम्--समझने के लिए.

समान-विद्यतः--समाना विद्या यस्य सः (बहु०), तस्मात् ; (समान-

विदूषकः--भोदि पेक्खामो उरब्भसंवादं । किं मुहा वेअणदाणेण । [भवति ! पश्यामि उरभ्र-संपातम् । कि मुधा वेतन-दानेन ।]*

देवी--णं कलहप्पिओसि । [ननु कलह-प्रियोऽसि ।]

विदूषकः--मा एव्वं । अण्णोण्णकलहिदाणं मत्तहत्थीणं एक्कदरसिं अणिज्जिदे कुदो उवसमो । [मैवम् । अन्योन्य-कलहितयोमत्त-हस्तिनो-रेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः ।]

राजा—ननु स्वाङ्ग-सौष्ठवाभिनयमुभयोर्द्दष्टवती भगवती ।‡

परिव्राजिका--अथ किम् ।

विद्य+तस्=तसिः, इस तसि प्रत्यय को कहा गया है, सार्वविभक्तिकोऽयं तसिः)। परि+√भू का कर्ता पञ्चमी विभक्ति में होता है । न अवगन्तुमर्हसि--समझना उचित नहीं है । तुमुन्नन्त का प्रयोग शक्, धृष्, ज्ञा, ग्ला, घट्, रभ्, लभ्, क्रम्, सह्, और अस् तथा इसके पर्यायवाची शब्दों के साथ होता है । (पा० ३.४.४६)

गणदास--महारानी ! समान विद्या वाले से मेरी हार का ख्याल करना आपके लिए ठीक नहीं है ।

* उरभ्र-संपातम्--मेढ़ों की लड़ाई; उरभ्रयोः संपातम् (लड़ाई; तत्पु०)।

विदूषक--महारानी ! मेढ़ों की लड़ाई देखते हैं । इन्हें व्यर्थ का वेतन देने से क्या ?

रानी—सचमुच तुम नारद हो (श० लड़ाई पसंद करने वाले हो)।

† अन्योन्य-कलहितयोः—अन्येन अन्येन इति अन्योन्येन ; कलहः अनयोः सञ्जातः इति कलहितौ; अन्योन्येन कलहितौ (तत्पु०), तयोः । एकतरस्मिन्--द्वयोः एकस्मिन् (एक+तर=डतरच् ; एकाच्च प्राचाम् पा० ५. ३. ९४), एकतर=दोनों में से एक; यह सर्वनाम है ।

विदूषक—ऐसा मत कहो । परस्पर लड़ते हुए उन्मत्त हाथियों में से बिना एक के हारे शान्ति कैसे हो सकती है ?

‡ सौष्ठव- (अंगों की) सुडौल बनावट, लालित्य.

उभयोः स्वाङ्गसौष्ठवाभिनयम्--स्वम् अङ्गम् (कर्म०), तस्य सौष्ठवम्

राजा—तदिदानीमतः परं किमास्यां प्रत्याययितव्यम् ।*
परिव्राजिका—तदेव वक्तुकामास्मि ।†
शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्म-संस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेष-युक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥ १६ ॥

तत्पु०); तेन अभिनयः (तत्पु०), तम्; उभयोः यहां उभय-कर्तृकम् अर्थात 'दोनों से किया गया' अर्थ में है।

राजा—अवश्य पूजनीया दोनों के अंगों द्वारा किये गए ललित अभिनय को देख चुकी हैं।

परिव्राजिका—हां, तो।

*प्रत्याययितव्यम्—प्रति √इ 'जाना' 'विश्वास करना' + णिच् + तव्य.

राजा—तो इससे और अधिक विश्वास दिलाने के लिए क्या हो सकता है?

†वक्तुकामा—वक्तुं कामः यस्याः सा (बहु०); तुम् के म् का लोप हो गया है। (तुं काम-मनसोरपि).

परिव्राजिका—वही मैं कहना चाहती हूँ।

अन्वयः—कस्यचित् क्रिया आत्म-संस्था शिष्टा, अन्यस्य संक्रान्तिः विशेष-युक्ता। यस्य उभयं साधु सः एव शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्यः।

श०—क्रिया—शिल्प, कला. आत्म-संस्था—अपने में स्थित. शिष्टा—विशिष्ट, विशेषयुक्त. संक्रान्तिः—(दूसरों को) प्रदान करने की शक्ति. साधु—अच्छा. विशेष-युक्ता—विशेषता से युक्त. धुरि—सर्वश्रेष्ठ. प्रतिष्ठापयितव्य—स्थापित करना चाहिए.

टि०—आत्म-संस्था—आत्मनि संतिष्ठत इति; व्यक्तिगत। संक्रान्तिः—सम् + √क्रम् 'जाना' + ति (=क्ति; स्त्रियां क्तिन् पा० ३. ३. ९४), दूसरे को प्रदान करना। विशेष-युक्ता—विशेषण युक्ता (तत्पु०)। उभयम्—उभे (क्रिया-संक्रान्ती) अवयवौ यस्य तत्। साधु—यह नपुंसक है क्योंकि उभयम् के साथ संबंध है। धुरि—धुर् की सप्तमी; धुर् का अर्थ गाड़ी का धुरा होता है और क्योंकि यह गाड़ी का सब से अगला हिस्सा होता है, इसलिए शब्द का अर्थ हुआ 'सब से अग्र-भाग'।

विदूषकः—सुदं अज्जेहिं भअवदीए वअणं। एसो पिण्डिदत्थो उवदेस-दंसणेण णिण्णओ त्ति [श्रुतमार्याभ्यां भगवत्या वचनम् । एष पिण्डितार्थ उपदेश-दर्शनेन निर्णय इति ।] *

हरदत्तः—परमुचितं नः ।

गणदासः—देवि ! एवं स्थितम् ।

देवी—जदा उण मन्दमेधा सिस्सा उवदेसं मलिणेदि, तदा आअरिअस्स दोसो णु । [यदा पुनर्मन्द-मेधा शिष्या उपदेशं मलिनयति, तदाचार्यस्य दोषो नु] †

प्रतिष्ठापयितव्यः—प्रति + √स्था 'खड़ा होना' + णिच् + तव्य । एव—इसका सम्बन्ध सः से है (अस्थानस्थापयितादोषः) ।

हिन्दी—किसी पुरुष की विद्या उसके पास रहने पर श्रेष्ठ होती है, और किसी का दूसरों पर अपनी विद्या को प्रकट करना विशेष उत्तम है; किन्तु ये दोनों गुण जिसमें हों उसे ही शिक्षकों में श्रेष्ठ मानना चाहिये । [१६]

*पिण्डितार्थ—तात्पर्य, सार.

पिण्डितार्थ :—पिण्डितः अर्थः (कर्म०) । उपदेश-दर्शनेन—उपदेशनम् उपदेशः (शिक्षा) अथवा उपदिश्यते इति उपदेशः (विद्या जो पढ़ाई गई है); दर्शनम् 'देखना, परीक्षण, प्रदर्शन' यह √दृश् का णिजन्त रूप है; उपदेशस्य दर्शनम् (तत्पु०), शिक्षा (की शक्ति) का परीक्षण ।

विदूषक—आपने पूजनीया का वचन सुन लिया । कहने का तात्पर्य यह है कि आपकी शिक्षा का प्रदर्शन द्वारा निर्णय होगा ।

हरदत्त—हमें बिल्कुल मंजूर है ।

गणदास—रानी ! यही निश्चित रहा ।

† मन्द-मेधा—मूर्ख (स्त्री). मलिनयति—बिगाड़ देती है.

यदा पुनर्मन्दमेधा—रानी का तात्पर्य [illegible] किसी बहाने को आगे करके मालविका को राजा [illegible] सामने आने से [illegible] ।

राजा—देवि ! एवमापद्यते । विनेतुरद्रव्य-परिग्रहोऽपि बुद्धि-लाघवं प्रकाशयति । ‡

देवी—(स्वगतम्) कहं दाणिं । (गणदासं विलोक्य, जनान्तिकम्) अलं अज्जउत्तस्स उस्साहकारणं मणोरहं पूरिअ । (प्रकाशम्) विरम णिरत्थआदो आरम्भादो । [कथमिदानीम् । अलमार्यपुत्रस्योत्साह-कारणं मनोरथं पूरयित्वा । विरम निरर्थकादारम्भात् ।] *

विदूषकः—सुट्ठु भोदी भणादि । भो गणदास, संगीदावदेसेण सरस्सई-उवाअणमोदआणं खादमाणस्स किं ते सुहणिग्गहेण विवादेण । [सुष्ठु भवती

रानी—मान लो, यदि जड़ बुद्धि शिष्य शिक्षा को बिगाड़ दे, तब क्या यह आचार्य का दोष है ?

‡ विनेतृ—अध्यापक. अद्रव्य—अयोग्य. बुद्धिलाघव—बुद्धि का हलकापन.

एवमापद्यते—यही वास्तव में होता है; अर्थात् अध्यापक इस विषय में निन्दा से बच नहीं सकता । अद्रव्य—यहाँ इसका अर्थ है 'अयोग्य शिष्य' । बुद्धि-लाघवम्—लघोः भावः लाघवम्; बुद्धेः लाघवम् (तत्पु०), तत्; एस. पी. पण्डित द्वारा किया गया अर्थ 'बुद्धि की तीव्रता' 'बढ़िया बुद्धि' स्पष्टतया ग़लत है । वह बुद्धिलाघवम् का बुद्धिजाड्यम् से तुलना करते हैं ।

राजा—रानी । ऐसा ही होता है । अध्यापक द्वारा अयोग्य शिष्य का स्वीकार करना भी उसकी बुद्धि की न्यूनता को प्रकट करता है ।

* सुख-निग्रह—जहां पराजय सुलभ है ।

उत्साह-कारणम्—उत्साहस्य कारणम् (तत्पु०) । विरम्— रुक जाओ ; वि+√रम् के साथ पञ्चमी विभक्ति लगती है । (जुगुप्सा विराम-प्रमादार्थानामुपसं-ख्यानम् वा. १. ४. २४) । निरर्थकात्—निर नास्ति अर्थः प्रयोजनं यस्मात् सः (बहु०), तस्मात्; ऐसी वस्तु जिससे कुछ लाभ न हो ।

रानी—(अपने आप) अब कैसे हो ? (गणदास की ओर देखकर, एक ओर) महाराज के मनोरथ को पूरा करके उनकी उत्कण्ठा के कारण को बढ़ाओ मत । (प्रकट) इस व्यर्थ के उद्यम से हट जाओ ।

भणाति । भो गणदास ! संगीतापदेशेन सरस्वत्युपायन-मोदकानि खादतः किं ते सुख-निग्रहेण विवादेन ।] *

गणदासः—सत्यमयमेवार्थो देवी-वचनस्य । श्रूयतामवसर-प्राप्तमिदम् । †

लब्धास्पदोऽस्मीति विवाद-भीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवल-जीविकायै तं ज्ञान-पण्यं वणिजं वदन्ति ।। १७ ।।

---

* अपदेशः—बहाना । सरस्वत्युपायन-मोदकानि—उपायन-भूतानि मोदकानि उपायन-मोदकानि (मोदक पु०-नपुं० दोनों है) सरस्वत्यै उपायन-मोदकानि; सरस्वती को लड्डू आदि मिष्टान्न भेंट किये जाते हैं और नये शिष्य के पढ़ाई शुरु करने पर शिक्षक को दिये जाते हैं। यही भेंट बाद में भी सरस्वती की पूजा पर दी जाती है। गौतम इस प्रकार गणदास को उसके स्व-अभिमान पर चोट करता है ताकि उसकी चाल बिगड़ न जाय।

† विदूषक—रानी ठीक कहती है। हे गणदास ! तुम संगीत के बहाने सरस्वती देवी के भेंट किये मिष्टान्न खाते हो, तुम्हें सुलभ पराजय वाले झगड़े से क्या ?

गणदास—हाँ ठीक, रानी के कहने का यही तात्पर्य है। सुन लो और यह समय के अनुकूल है।

अन्वयः—लब्धास्पदः अस्मि इति विवाद-भीरोः परेण निन्दां तितिक्षमाणस्य यस्य आगमः केवल-जीविकायै (भवति) तं ज्ञान-पण्यं वणिजं वदन्ति ।

श०—लब्धास्पद—जिसने स्थान पा लिया है. तितिक्षमाण—धैर्य-पूर्वक सहन करते हुए. आगम—विद्या. केवल-जीविकायै—जीविका मात्र के लिए. ज्ञान-पण्य—विद्या बेचने वाला. वणिक्—व्यापारी, बनिया.

टि०—लब्धास्पदः—लब्धम् आस्पदं येन स लब्धास्पदः (बहु०)। विवाद-भीरोः—विवादात् भीरुः (तत्पु०), तस्य । तितिक्षमाणस्य—√तिज् 'तेज करना' का सन्नन्त (किन्तु सन्नन्त के अर्थ बिना) शानच् (गुप्-तिज्-किद्भ्यः सन् पा० ३. १. ५; तिजे क्षमायाम् वा० ३. १. ५)। परेण निन्दाम्—परेण कृतां निन्दाम् ।

देवी—अइरोवणीदा दे सिस्सा । ता आवरिणिट्ठिदस्स उवदेसस्स अण्णाअं पआसणं । [अचिरोपनीता ते शिष्या । तदपरिनिष्ठितस्योपदेशस्यान्याय्यं प्रकाशनम् ।] †

गणदासः—अत एव मे निर्बन्धः । *

देवी—तेण हि दुवेवि उवदेसं भअवदीए दंसेध । [तेन हि द्वावप्युपदेशं भगवत्यै दर्शयतम् ।]

परिव्राजिका—देवि ! नैतन्न्याय्यम् । सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय । ‡

ज्ञान-पण्यम्—पणितम् अर्हः पण्यः (√पण् 'व्यापार करना' + य = यत्), बेचने योग्य वस्तु;वास्तव में यह विशेषण है । ज्ञानं पण्यं (क्रय्यं) यस्य सः (बहु०), तम् ।

हिन्दी—ऐसे पुरुष को लोग ज्ञान बेचने वाला बनिया कहते हैं जो "मुझे स्थान मिल गया है" इस कारण विवाद से डरता है, दूसरों से अपनी निन्दा को सहता है, और जिसकी विद्या केवल पेट भरने के लिए है । [१७]

+ अचिरोपनीता—अभी-अभी दीक्षित (शिष्या). अपरिनिष्ठित—अधूरा. अन्याय्य—अनुचित.

अचिरोपनीता—उपनीत=उप + √नी 'ले जाना' + त (क्त); उप + √नी का विशेष अर्थ होता है 'दीक्षित; यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त करना' (संमाननोत्सञ्जनाऽऽचार्यकरण-ज्ञान-भृति-विगणन-व्ययेषु नियः पा० १.३.३६)। अपरिनिष्ठितस्य—अ (नञ्)+परि+नि+√स्था+त (क्त), ठीक तरह मनन न किया हुआ । अन्याय्यम्—न न्याय्यम् (नञ्-तत्पु०) ।

रानी—आपकी शिष्या अभी-अभी आपके सुपुर्द की गई थी। इसलिए ठीक तरह मनन न किये हुये उपदेश का प्रदर्शन करना गलती है ।

* निर्बन्ध—हठ.

गणदास—इसलिए मेरा हठ है ।

रानी—तो आप दोनों अपना उपदेश भगवती को दिखाएँ ।

‡ सर्वज्ञ—सर्व-ज्ञाता. एकाकिन—अकेला. अभ्युपगम—स्वीकृति.

देवी—(आत्मगतम्) मूढे, किं मं जागन्तिं वि सुत्तं विअ करेसि। [मूढे ! किं मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि] (इति सासूयं परावर्तते)‡

(राजा देवीं परिव्राजिकायै दर्शयति)

परिव्राजिका--(विलोक्य)

अनिमित्तमिन्दु-वदने किमत्रभवतः पराङ्मुखी भवसि।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारण-कोपाः कुटुम्बिन्यः ॥ १८ ॥

देवी ! नैतन्न्याय्यम्—परिव्राजिका इस वचन द्वारा संकटावस्था बचा लेती है। राजा के पक्ष के लिए उसका उत्साह देखो। सर्वज्ञस्य—सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः, तस्य। एकाकिनः—असहायस्य। निर्णयाभ्युपगमः—निर्णयस्य अभ्युपगमः तत्पु०; अभ्युपगमः—अभि+उप+√ गम्+घञ्। दोषाय—संपद्यते विदित ही है। (क्लृपि संपद्यमाने च वा २. ३. १३; और गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तेः प्रयोजिका)।

परिव्राजिका—रानी ! यह उचित न होगा। अकेले सर्वज्ञ पुरुष का भी निर्णय करना स्वीकार कर लेना दोष-पूर्ण है।

‡ सासूयम्—सक्रोध, ईर्ष्यापूर्वक.

देवी (आत्मगतम्)—सब हस्तलिखित ग्रंथ आत्मगतम् के बदले जनान्तिकम् पाठ पढ़ते हैं किन्तु जनान्तिकम् बिलकुल भी पाठ में संगत नहीं लगता। एस० पी० पण्डित ने इसके बदले आत्मगतम् बहुत ठीक ही लगाया है। सासूयम्—असूयया सह यथा भवति तथा (अव्ययी०)।

रानी—(अपने आप) मूर्ख ! क्या मुझे जागती हुई को भी सोई हुई-सी समझती है ? (सक्रोध मुँह मोड़ लेती है)

(राजा परिव्राजिका को रानी की ओर देखने को कहता है)

अन्वयः—इन्दु-वदने ! अनिमित्तम् अत्रभवतः किं पराङ्मुखी भवसि ? कुटुम्बिन्यः प्रभवन्त्यः अपि भर्तृषु कारण-कोपाः हि।

श०—इन्दु-वदना—चन्द्रमुखी. पराङ्मुखी—मुँह मोड़े हुए. कुटुम्बिन्यः—गृहिणियाँ. प्रभवन्त्यः—प्रभावशालिनी. कारण-कोप—जिनका

विदूषकः—णं सकारणं एव्व । अत्तणो पक्खो रक्खिदव्वो त्ति । (गणदासं विलोक्य) दिट्ठिआ कोवव्वाजेण देवीए परित्तादो भवं । सुसिक्खिदो वि सव्वो उवदेसदंसणे ण णिउणो होदि । [ननु सकारणमेव । आत्मनः पक्षो रक्षितव्य इति । दिष्ट्या कोप-व्याजेन देव्या परित्रातो भवान् । सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेश-दर्शने न निपुणो भवति ।]*

गणदासः—देवि ! श्रूयताम् । एवं जनो गृह्णाति । तदिदानीम्

विवादे दर्शयिष्यन्तं क्रिया-संक्रान्तिमात्मनः ।
यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥ १९ ॥

क्रोध किसी कारण पर ही निर्भर होता है.

टि०—इन्दुवदने—इन्दुः इव वदनं यस्याः सा (बहु०), तत्सम्बुद्धौ । प्रभवन्त्यः—प्र + √भू 'होना' + अत (शतृ) + ई (ङीप् ; उगितश्च वा० ४. १. ६) ; प्र + √भू का प्रयोग प्रायः षष्ठी तथा कभी-कभी सप्तमी विभक्ति के साथ होता है । भर्तृषु—यह शब्द प्रभवन्त्यः अथवा कारणकोपाः दोनों में से किसी अथवा दोनों के साथ लिया जा सकता है । कारण-कोपाः—कारणात् कोपः यासां ताः व्यधिकरणबहु०; देखो सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ पा० २. २. ३५ पर भट्टोजी ।

हिन्दी—हे चन्द्रमुखी ! बिना कारण तुम महाराज से क्रुद्ध क्यों होती हो ? स्त्रियां पतियों पर प्रभुत्व रखती हुई भी किसी कारण से ही कुपित होती हैं । [१८]

* दिष्ट्या—सौभाग्यवश. व्याज—बहाना.

दिष्ट्या—अ० (क्योंकि पाणिनि ने इसे चवर्ग में रखा है । चादयोऽसत्त्वे १. ४. ५७) वास्तव में यह दिष्टि (सौभाग्य) का तृतीया है ।

विदूषक—हां, कारण तो है ही कि अपना पक्ष बचाना है । सौभाग्यवश क्रोध के बहाने रानी ने आपको बचा लिया । (गणदास को देखकर) खूब अच्छी तरह शिक्षा पाया हुआ भी प्रत्येक अध्यापक शिक्षा देने में निपुण नहीं होता ।

गणदास—लो सुन लो, रानी ! लोग ऐसा मतलब निकालेंगे । इसलिए अब

(आसनादुत्तिष्ठति)

देवी—(स्वगतम्) का गई । (प्रकाशम्) पहवदि आआरिओ सिस्स-जणस्स । [का गतिः । प्रभवत्याचार्यः शिष्य-जनस्य ।] *

गणदासः—चिरमपदे शङ्कितोऽस्मि । (राजानमवलोक्य) अनुज्ञातं देव्या । तदाज्ञापयतु देवः कस्मिन्नभिनेय-वस्तुन्युपदेशं दर्शयिष्यामि ।†

अन्वयः – विवादे आत्मनः क्रिया-संक्रान्तिं दर्शयिष्यन्तं मां यदि न अनुजानासि त्वया अहं परित्यक्तः अस्मि ।

श०—क्रिया-संक्रान्तिः—दूसरे को प्रदान करने की शक्ति. दर्शयिष्यन्तं—दिखलाने वाले को.

टि०—विवादे—झगड़े में । दर्शयिष्यन्तम् —√दृश् १ पर० 'देखना' + इ (णिच्) + इ (इट्) + स्य + अत् (शतृ) । क्रिया-संक्रान्तिम्—क्रियायाः संक्रान्तिम् (तत्पु०), ताम् । यदि मां...अहं त्वया—यदि आप मुझे मेरे पद से हटा देना चाहती हैं, तो आप मुझे रोक सकती हैं, अन्यथा नहीं ।

हिन्दी—विवाद के समय अपनी शिक्षा देने की योग्यता को दिखलाने वाले (अर्थात दिखलाने को उत्सुक) मुझे यदि आप आज्ञा न देंगी तो मैं समझूंगा कि आपने मुझे छोड़ दिया । [१६]

(अपने स्थान पर से उठ बैठता है ।)

* गति - उपाय, चारा; का गतिः—कोई मार्ग नहीं, अर्थात विवश हूँ ।

रानी—(स्वगत) कोई चारा नहीं । (प्रकट) आचार्य का अपने शिष्य पर पूरा प्रभुत्व है ।

† अपदे—बिना स्थान के, निष्कारण.

चिरमपदे शङ्कितोऽस्मि— इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(१) मैं निष्कारण ही देर से शक कर रहा था । किन्तु इस अर्थ में हमें अस्मि को आसम के अर्थ लेना होगा । (२) रानी इतनी देर तक व्यर्थ ही मेरी योग्यता पर संदेह करती रही । दूसरा अर्थ ज्यादा उपयुक्त मालूम होता है । शङ्कितः—(१) शङ्का+इत (इतच्); शङ्का सञ्जाता अस्य सः (वह जो संदेह कर रहा है) वा (२) √शक् 'शक

राजा—यदादिशति भगवती।

परिव्राजिका—किमपि देव्या मनसि वर्तते। तच्छङ्कितास्मि।*

देवी—भण विस्सद्धं। णं पहविस्सं अत्तणो परिअणस्स। [भण विस्रब्धम्। ननु प्रभविष्याम्यात्मनः परिजनस्य।] †

राजा—मम चेति ब्रूहि। ░

देवी—भअवदि भण दाणिं। [भगवति! भणेदानीम्।]

परिव्राजिका—देव! चतुष्पदोद्भवं चलितं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति। तत्रैकार्थ-संश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः। तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेश-तारतम्यम्। ‡

करना' + त (क)। वस्तु—विषय।

गणदास—[तो] मैं व्यर्थ ही देर तक शङ्का करता रहा। (राजा को देखकर) रानी से आज्ञा मिल गई। अतएव महाराज आज्ञा करें कि अभिनय के योग्य किस वस्तु में उपदेश (देने की शक्ति का) प्रदर्शन करूँ?

राजा—जो पूजनीय की आज्ञा।

*किमपि देव्या—कौशिकी चलित नृत्य के लिए आदेश देना चाहती है, जिससे मालविका रंगमंच पर उपस्थित हो जाय, किन्तु रानी द्वारा बाधा से डर जाती है। ननु प्रभविष्यामि आदि—रानी यह कहती जान पड़ती है कि मैं कुछ परवाह नहीं करती। यदि तुम मालविका को रंगमंच पर ले आओ, मैं तब भी अपनी दासी के भविष्य की किसी भी घटना को रोक सकती हूँ।

परिव्राजिका—रानी के मन में कुछ बात है। इसलिए डर रही हूँ।

† विस्रब्धम्—निःशंक, निडर होकर.

रानी—निडर होकर कहो। अवश्य मैं अपने सेवकों पर प्रभुत्व रखती हूँ।

░ मम चेति ब्रूहि—'कामुकता की सुन्दर चोट' (एस. पी. पण्डित)

राजा—और मेरे ऊपर भी कहो।

रानी—पूजनीये! अब कहो।

‡ चतुष्पदोद्भव—चार पदों पर आश्रित. दुष्प्रयोज्य—कठिनाई से अभिनय

आचार्यौ—यदाज्ञापयति भगवती ।

विदूषकः—तेण हि दुवेवि वग्गा पेक्खाघरे संगीदरअणं करिअ अत्तभवदो दूदं पेसअह । अह वा मुदङ्गसद्दो एव्व णो उत्थावइस्सदि । [तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षा-गृहे संगीत-रचनां कृत्वात्रभवतो दूतं प्रेषयतम् । अथ वा मृदङ्ग-शब्द एव न उत्थापयिष्यति ।]*

करने योग्य. एकार्थ-संश्रय—एक ही वस्तु पर आश्रित. तारतम्य—न्यूनाधिक भाव.

चतुष्पदोद्भवम्—पद गीत का एक हिस्सा है । ('सूरदास के पद') में पद शब्द देखो पिङ्गलसूत्र पर की गई टीका में कहा है:—

चतुष्पदीछन्दः । एतत्पदचतुष्टययुक्तमेकं चरणम् ।
एतादृशचरणचतुष्टयं तादृशं (अर्थात चतुष्पदी) छन्दः ।

चत्वारि पदानि यस्याः सा चतुष्पदा; भरत–नाट्य-शास्त्र के मतानुसार चतुष्पदा में चार वस्तु होती हैं । वस्तु का यहां अर्थ छन्द, गीत (गाने में एकाई) में लिया जा सकता है । इससे विषय अथवा प्रकरण का भी अर्थ लिया जा सकता है । चतुष्पदा में पद खण्ड के अर्थ में भी लिया जा सकता है । (चत्वारि पदानि खण्डानि यस्याः सा चतुष्पदा), चतुष्पदायाः उद्भवः यस्य तत् चतुष्पदोद्भवम्; चतुष्पद पर आश्रित । दुष्प्रयोज्यम्— दुः दुःखेन प्रयुज्यते इति (दुस्+प्र+√युज् 'जोड़ना'+अ=खल्), कठिनता से करने योग्य । एकार्थ-संश्रयम्—एकः अर्थः एकार्थः (कर्म०), सः संश्रयः (आश्रय) यस्य तत् (बहु०) । तारतम्यम्—तरतमस्य भावः (तरतम+य=ष्यञ्) दरजा, वास्तविक महत्व, भेद ।

परिव्राजिका—राजन ! चतुष्पद पर अश्रित चलित नृत्य को लोग कठिनाई से अभिनय योग्य कहते हैं । उसमें एक ही वस्तु के आधार पर दोनों का अभिनय प्रयोग देखेंगे । उससे इन महानुभावों की छोटाई-बड़ाई विदित हो जायगी ।

दोनों नृत्याचार्य—जो पूजनीया आज्ञा दें ।

* वर्ग—पक्ष. प्रेक्षा-गृह—नाटक-शाला. मृदङ्ग—तबला.

हरदत्तः—तथा। (इत्युत्तिष्ठति)

(गणदासो देवीमवलोकयति)

देवी—(गणदासं विलोक्य) विअई होहि। ण हु विअअपच्चत्थिणी अहं आअरिअस्स। [विजयी भव। न खलु विजय-प्रत्यर्थिन्यहमाचार्यस्य।] (उभौ प्रस्थितौ) *

परिव्राजिका—इतस्तावदाचार्यौ।

आचार्यौ—(परिवृत्य) इमौ स्वः।

परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वाङ्ग-सौष्ठवाभिव्यक्तये विरल-नेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु। †

विदूषक—तो दोनों ही पक्ष नाटक-शाला में संगीत आदि का प्रबन्ध करके महाराज के पास दूत भेज दें। अथवा तबले की थाप ही हमें उठा देगी।

हरदत्त—बहुत ठीक। (खड़ा होता है)

(गणदास रानी की ओर देखता है)

*विजय-प्रत्यर्थिन—जीत की विरोधिनी.

विजयप्रत्यर्थिनी—प्रत्यर्थयते इति प्रत्यर्थिनी; विजयस्य प्रत्यर्थिनी (तत्पु०)।

रानी—(गणदास को देखकर) विजयी होओ! सचमुच मैं आचार्य की विजय की विरोधिनी नहीं हूँ। [दोनों चल पड़ते हैं

परिव्राजिका—ज़रा इधर तो आना, दोनों आचार्य।

दोनों आचार्य—(लौटकर) हम दोनों आ गये।

†सौष्ठव—सौन्दर्य. अभिव्यक्ति—साफ़-साफ़ प्रकट करना. नेपथ्य—वेश, पहनावा.

निर्णयाधिकारे—निर्णयस्य अधिकारः (तत्पु०), तस्मिन्; इस महावरे पर ध्यान दो। विरल-नेपथ्ययोः—विरलं (पतला, थोड़ा) नेपथ्यं (वेश, आभूषण आदि) ययोः ते (बहु०), तयोः। कौशिकी के कहने का तात्पर्य उसके शब्दों से बिलकुल स्पष्ट है। उसका वास्तव में उद्देश्य है महाराज के सामने मालविका को उसके असली सौन्दर्य में लाना, जिससे कि वह महाराज का हृदय तत्काल

उभौ—नेदमप्यावयोरुपदेश्यम्। (इति निष्क्रान्तौ)

देवी—(राजानमवलोक्य) जइ राअकज्जेसु वि ईरिसी उवाअणिउणदा अज्जउत्तस्स तदो सोहणं भवे। [यदि राजकार्येष्वपीदृश्युपाय-निपुणतार्य-पुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्।]†

राजा—अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि ! मया प्रयुक्तमिदम्।
प्रायः-समान-विद्याः परस्पर-यशःपुरोभागाः ॥ २० ॥

(नेपथ्ये मृदङ्ग-शब्दः। सर्वे कर्णं ददति)

परिव्राजिका—हन्त ! प्रवृत्तं संगीतकम्। तथा ह्येषा*

आकर्षित कर ले।

परिव्राजिका—मैं निर्णायक के रूप में कहती हूँ कि सब अंगों के सौन्दर्य को साफ़-साफ़ दिखाने के लिए, वस्त्र पहने पात्रों का प्रवेश हो।

दोनों—हमें यह (बात) भी समझानी न होगी। [दोनों का प्रस्थान

†यदि राजकार्येषु...—यहां बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि रानी ने सारा मामला ताड़ लिया था।

रानी—(राजा को देखकर) यदि राज-कार्य में भी उपाय सोचने में महाराज की ऐसी चतुराई होती तो बहुत अच्छा होता।

अन्वयः—अन्यथा गृहीत्वा अलम्; मनस्विनि ! इदं मया न खलु प्रयुक्तम्। समान-विद्याः प्रायः परस्पर-यशः-पुरोभागाः !

श० मनस्विनि—अभिमानिनी, प्रयुक्त—किया, पुरोभाग—दोषदर्शी.

टि०—समान-विद्याः—समाना विद्या येषां ते (बहु०)। परस्पर-यशःपुरोभागाः—पुरः भागः येषां ते (बहु०); परस्परस्य यश सिपुरोभागाः।

हिन्दी—हे मान करने वाली ! तुम कुछ और मत समझो। सचमुच यह मैंने नहीं किया। प्रायः समान विद्या वाले एक दूसरे के यश से ईर्ष्या करते ही हैं। [२०]

(नेपथ्य में तबले की थाप होती है। सब ध्यान से सुनते हैं)

* संगीतकम्—संगीतम् एव संगीतकम्।

जीमूत-स्तनित-विशङ्किभिमयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।
निर्ह्लादिन्युपहित-मध्यम-स्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥ २१ ॥

राजा—देवि ! सामाजिका भवामः । *

परिव्राजिका—अहो ! संगीत प्रारम्भ हो गया । क्योंकि, यह,

अन्वयः—जीमूत-स्तनित-विशङ्किभिः उद्ग्रीवैः मयूरैः अनुरसितस्य पुष्करस्य निर्ह्लादिनी उपहित-मध्यम-स्वरोत्था मायूरी मार्जना मनांसि मदयति ।

श०—जीमूत—बादल. स्तनित—गर्जना. उद्ग्रीवैः—गर्दन ऊपर उठाए हुए, उत्कण्ठित. अनुरसित—अनुध्वनित. पुष्कर—तबला. निर्ह्लादिनी—गम्भीर शब्द वाली. उपहित—संयोजित. मध्यम-स्वर—मध्यम संज्ञक स्वर. मायूरी—मोरों की प्रिय. मार्जना—थाप. मदयति—आनन्द देती है.

टि०—जीमूत-स्तनित-विशङ्किभिः—जीमूतस्य स्तनितम् (तत्पु०), तं विशङ्कन्ते इति तैः, तबले की आवाज़ मोरों को प्रिय कही गई है । उद्ग्रीवैः—उन्नता ग्रीवा येषां ते (बहु०), तैः । पुष्करस्य—कोषकार इस शब्द को तूर्यास्य द्वारा समझाते हैं (तूरी का मुँह अर्थात् वह जगह जहां हाथ मारा जाता है) जिससे तबले की खाल का अर्थ लाया जा सकता है । उपहित-मध्यम-स्वरोत्था—मध्ये भवः मध्यमः; मध्यमः स्वरः मध्यम-स्वरः (कर्म०, चौथी ध्वनि, चौथा स्वर); उपहितः (उप + √धा 'रखना' + त=क्त, रखा हुआ) मध्यम-स्वरः (कर्म०), तस्मात् उत्तिष्ठति इति । मायूरी मार्जना—मार्जना, तबले की एक भारी थाप का खास नाम है । मार्जना के तीन प्रकार हैं :—(१) मायूरी; (२) अर्धमायूरी, और (३) कार्मारवी । मायूरी—यह मोरों को बहुत प्रिय है, इसलिए इसका यह नाम पड़ा । मदयति—√मद् 'प्रसन्न होना' +णिच्+लट्, माद्यति इत्यादि धातु के रूप बनते हैं ।

हिन्दी—बादलों के गर्जने की शंका वाले, ऊपर को गर्दन किये हुए मोरों से अनुकरण किये गये मृदङ्ग बाजे की गम्भीर और आधार-भूत मध्यम स्वर से उठी हुई मायूरी थाप मन को प्रसन्न करती है । [२१]

*सामाजिकाः—सभासद, दर्शक; समाज+इक=ठक् ।

देवी—(स्वगतम्) अहो अविणओ अज्जउत्तस्स । [अहो अविनय आर्यपुत्रस्य ।] † (सर्वे उत्तिष्ठन्ति)

विदूषकः—(अपवार्य) भो धीरं गच्छ । मा क्खु अत्तभोदी धारिणी विसंवादइस्सदि । [भोः ! धीरं गच्छ । मा खल्वत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति ।] ‡

राजा—

धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरज-वाद्य-नादोऽयम् ।
अवतरतः सिद्धि-पथं-शब्दः स्व-मनोरथस्येव ॥ २२ ॥

राजा—रानी ! चलो, नाटक-शाला को चलें ।

† अविनयः—धृष्टता, विनयस्य अभावः (तत्पु०) ।

रानी—(अपने आपको) ओह ! महाराज की धृष्टता । (सब खड़े हो जाते हैं)

‡ विसंवादयिष्यति—निराश करा देगी.

विसंवादयिष्यति—वि+सम्√वद्+णिच्+लृट्√वद् 'बोलना' किन्तु विसंवद् का अर्थ है 'परस्पर विरोधी होना' मध्यम पु० विसंवद् के णिजन्त का अर्थ होगा, 'परस्पर विरोधी बनाना, परस्पर विरोधी प्रमाणित होना', स्वीकृत विषय में निष्फलता का लाना' इस प्रकार मा खल्वत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति, के साथ संपद्यमानं कार्यम्, जोड़कर का अर्थ होगा 'रानी कहीं (ऐसा कार्य जिसमें सफलता शीघ्र जान पड़ती है) निष्फल न करदे ।' दूसरा अर्थ होगा; 'कहीं आप परस्पर विरोधी न प्रमाणित हो जायँ ।' (धारिणी के बाद 'त्वां' शब्द जोड़ लो ।)

विदूषक—(एक तरफ़) अजी, धीरे-धीरे चलो । अन्यथा रानी कहीं आपको परस्पर विरोधी न प्रमाणित कर दे (अथवा आपको निराश न कर दे)

अन्वयः—अयं मुरज-वाद्य-नादः धैर्यावलम्बिनम् अपि मां त्वरयति, सिद्धि-पथम् अवतरतः स्वमनोरथस्य शब्दः इव ।

श०—मुरज—एक प्रकार का तबला. वाद्य—बाजा. त्वरयति—जल्दी

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः

कर रहा है. सिद्धि-पथ—सफलता का मार्ग ।

टि०—धैर्या० यह श्लोक केवल विदूषक से ही कहा जाना चाहिए। रानी के सामने यह प्रकट नहीं होना चाहिए। किन्तु 'अपवार्य' नहीं दिया गया; कारण यह जान पड़ता है कि अपवारितक उसी रूप में समझा जाता है। धैर्यावलम्बिनम्—धैर्यमवलम्बते इति धैर्यावलम्बी, तम् । त्वरयति—त्वरमाणं प्रेरयति इति । √त्वर् 'जल्दी करना' +णिच् । मुरज-वाद्य-नादः—मुरज (मृदङ्ग) एव वाद्यम् (कर्म०), तस्य नादः (तत्पु०)। सिद्धिपथम्—सिद्धेः पन्थाः (पथः) सिद्धिपथः (तत्पु०), तम् । स्वमनोरथस्य—मनसो रथः मनोरथः (मानसिक रथ, इच्छा, कामना) स्वस्य मनोरथः (तत्पु०), तस्य । मनोरथ की वास्तव में कोई आवाज़ नहीं होती। यह यहां मान ली गई है। अतएव यहां अलंकार उत्प्रेक्षा है, न कि उपमा ।

हिन्दी—सिद्धि के मार्ग में उतरते हुए अपने मनोरथ के शब्द के सदृश वह मुरज बाजे का शब्द धैर्य धारण करने वाले मुझ से भी शीघ्रता करा रहा है। [२२]

[सब का प्रस्थान

प्रथम अंक समाप्त

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति संगीत-रचनायां कृतायामासनस्थः सवयस्यो राजा धारिणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः) *

राजा—भगवति ! अत्रभवतोराचार्ययोः कतरस्य प्रथममुपदेशं द्रक्ष्यामः ।

परिव्राजिका—ननु समानेऽपि ज्ञान-वृद्ध-भावे वयोवृद्धत्वाद् गणदासः पुरस्कारमर्हति । †

राजा—मौद्गल्य ! एवमत्रभवतोरावेद्य स्वनियोगमशून्यं कुरु । ‡

अङ्क दूसरा

यह अंक बिना विष्कम्भक वा प्रवेशक के आरम्भ हो जाता है । ऐसे आरम्भ का नाम अङ्कावतार वा अङ्कावतरण है । साहित्य-दर्पण में इसका लक्षण ऐसे है:—

अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ।
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कवतार इति स्मृतः ॥ (सा० द० ६.५८)

* संगीत-रचना—संगीत का प्रबन्ध. वयस्य—मित्र. विभवतः—पद के क्रम से. परिवार—भृत्य-वर्ग.

(तब संगीत का प्रबन्ध हो जाने पर मित्र-सहित राजा का, जो आसन पर विराजमान था, रानी धारिणी, परिव्राजिका तथा अपने पदानुसार बैठे भृत्य-वर्ग के साथ प्रवेश)

राजा—भगवती ! इन दो माननीय आचार्यों में से किसकी रीत (के कौशल) को हम पहले देखें ?

†पुरस्कार—अग्र-गमन, प्रथमता.

परिव्राजिका—सचमुच मान के बड़प्पन में तो दोनों बराबर हैं, किन्तु आयु में वृद्धि के कारण गणदास प्रथम अवसर का अधिकारी है ।

‡आवेद्य—निवेदन करके. अशून्यं कुरु—पूरा करो, लग जाओ.

नियोगमशून्यं कुरु—अशून्यम् का अर्थ खाली नहीं । वाक्य का शब्दार्थ है :—अपने काम का ध्यान करो; अपना काम करो; यह सेवकों को (विशेष कर

श्लोकानुक्रमणिका

———

परिशिष्ट क

पौराणिक कथानक

अंक १. १. कृत्ति-वासाः—जन-श्रुति के अनुसार शिवजी ने **गजासुर (गयासुर)** का नाश किया था। इस दैत्य ने ऋषियों को बहुत तंग किया था। शिवजी ने दैत्य के कथनानुसार उसके चर्म को पहन कर नृत्य किया था। कहा जाता है कि शिवजी नृत्य के समय यही चर्म धारण करते हैं।

अंक ३. २. हर-दग्धस्य मनोभव-द्रुमस्य—यह संकेत शिवजी द्वारा कामदेव के जलाये जाने की ओर है। कहा जाता है कि तारकासुर बहुत बलवान् हो गया था और सब देवताओं को तंग करता था। वे सब ब्रह्मा के पास गये और उसे कष्ट दूर करने के लिए प्रार्थना की। उसने कहा कि तारक ने इतना कठोर तप किया है कि वह सब लोकों को जला सकता है। यह देखकर ब्रह्मा ने उसे वर दे दिया कि वह देवतायों द्वारा अजेय रहेगा। इस प्रकार उसके तप का भय दूर कर दिया गया। अतएव ब्रह्मा स्वयं उसका नाश करना नहीं चाहता था, पाले हुए विषैले वृष को भी कौन नाश करता है। उसने यह सुझाया कि वे शिवजी से पुत्र प्राप्त करें, केवल वही असुर का नाश कर पावेगा। देवता लोग लौट गये और इन्द्र ने कामदेव को शिवजी के हृदय में प्रेम-भाव जागृत करने का आदेश दिया। शिवजी तब हिमालय पर तप कर रहे थे। कामदेव ब्रह्मचारी शिव के हृदय में प्रेम का रंग लाने में सफल हो गया, किन्तु शिवजी ने दिव्य-शक्ति द्वारा यह सब रहस्य समझ कर कामदेव को अपने तीसरे नेत्र से निकली आग द्वारा भस्मीभूत कर दिया।

यह कथा ब्रह्म-पुराण और कालिकापुराण में तथा सविस्तर शिव-पुराण में वर्णन की गई है। (अध्याय ५, ६, ९, १०)

अंक ५. २. शौरेः प्रसह्य च रुक्मिणीम्—यहाँ संकेत कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण की ओर है। वह विदर्भराज भीष्मक की पुत्री थी। उसकी सगाई शिशुपाल से हुई थी, किन्तु वह श्रीकृष्ण को चाहती थी। विवाह के

दिन कृष्ण ने स्थल पर प्रकट होकर शिशुपाल तथा रुक्मिणी के भाई रुक्मिन् को हरा दिया और रुक्मिणी को ले गए।

५. १५-१६. **अंशुमतेव सगरः**—सगर सूर्यवंश का राजा था। इसी वंश में रघु और राम हुए। इनकी वंशावली का कुछ भाग नीचे दिया जाता है:—

सगर
|
असमञ्जस (केशनी द्वारा) — ६०,००० पुत्र (सुमति द्वारा)

असमञ्जस
|
अंशुमान्
|
दिलीप
|
रघु
|
अज
|
दशरथ
|
राम

इस सगर ने, जो अयोध्या का राजा था, ९९ यज्ञ बिना किसी बाधा के पूरे किये। जब उसने १०० वां यज्ञ आरम्भ किया, तब उसका घोड़ा इन्द्र ने चुराकर पाताल-लोक में पहुँचा दिया। सगर के ६०,००० लड़कों ने समस्त पृथ्वी खोज डाली और जब वह घोड़ा न मिला, तब उन्होंने पाताल तक ज़मीन खोद डाली। वहां उन्होंने कपिल ऋषि के आश्रम के पास घोड़े को चरते पाया। ऋषि चोरी का दोष लगने पर बहुत कुपित हुआ और उसने उन सब को भस्म कर दिया। बहुत समय के बाद अंशुमत् कपिल ऋषि को शान्त कर पाया। इस प्रकार घोड़ा वापस लाये जाने पर सगर ने अश्वमेध-यज्ञ पूरा किया।

अंक ५. १७. अग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा—यह कथानक ऋषि और्व और उसके प्रचण्ड क्रोध की ओर संकेत करता है। यही प्रचण्ड क्रोध वडवा का रूप धारण करने से वडवाग्नि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह वडवाग्नि समुद्र के जल पर निर्वाह करती है। कथा इस प्रकार है:—कृतवीर्य के पुत्रों ने अपने कुल-पुरोहित भृगु के वंशजों का नाश कर दिया। गर्भ-स्थित बच्चे तक को भी न छोड़ा। वे निर्धन हो जाने पर भार्गवों से कृतवीर्य द्वारा दी गई सम्पत्ति को पाकर फिर धनी बन जाना चाहते थे। एक ब्राह्मण स्त्री गर्भवती थी, उसने बच्चे को जांघों में रख छोड़ा ताकि क्षत्रिय लोग उसे देख न सकें। यही लड़का और्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि यह जांघ में से जन्मते समय अतुल द्युति से युक्त था। और्व ने समस्त पृथ्वी को नाश कर देने की प्रतिज्ञा की। किन्तु उसके मृत पूर्वजों ने उसे शान्त कर दिया और समुद्र के जल-पुञ्ज को सुखा डालने के अभि-प्राय से आदेश दिया कि वह अपनी क्रोधाग्नि समुद्र में फेंक दे। इस आग ने घोड़ी-का-सा मुँह धारण किया, और इसीलिए इसका नाम वडवाग्नि पड़ा।

परिशिष्ट ख

प्राकृत का संस्कृत के साथ सम्बन्ध

संस्कृत के नाटकों में तीन प्रकार की प्राकृत पाई जाती है। **शौरसेनी, मागधी** और **महाराष्ट्री**। **शौरसेनी** का प्रयोग संवाद में होता है और **महाराष्ट्री** का प्रयोग कविता तथा गीतों में। निम्न-कोटी के पात्र मागधी में बोलते और गाते हैं। नीचे हम कुछ ऐसे नियम देते हैं, जिनके द्वारा विदित हो जायगा कि प्राकृत के शब्द संस्कृत में बदलते समय किन परिवर्तनों में से गुज़रते हैं:—

प्राकृत लिपि—स्वरों में से ऋ, ॠ, ऌ, ऐ और औ का अभाव रहता है। संज्ञा-रूप प्राकृत में द्विवचन तथा चतुर्थी का अभाव होता है। चतुर्थी का काम षष्ठी से ही लिया जाता है, जैसे—नमो देवाय-णमो देवस्स।

धातु-रूप— प्राकृत में आत्मनेपद नहीं होता। न ही द्विवचन होता है। लुङ् का रूप भी बहुत सरल कर दिया गया है।

ऋ के स्थान पर इ हो जाती है, जैसे—कृपा-किवा, कृत-किद, मृदुल-मिदुल, कृश-किस, दृष्टि-दिट्ठि; या उ विशेषतया जब इसके पहले पवर्ग हो, जैसे पृच्छति-पुच्छदि, परभृत-परमुश्रा, संवृत्त-संवुद, वृद्ध-वुड्ढ वृत्तान्त-वुत्तन्त; या अ, जैसे तृण तण, जृम्भते-जंभाअइ, घृणा-घणा, मृष-मरिस; या रि (केवल जब आरम्भ में हो) जैसे—ऋण-रिण, तादृश-तारिस, ऋच्छ-रिच्छ।

ऐ ए में बदल जाती है, जैसे—शैल-सेल, ऐरावत-एरावण, वैद्य वेज्ज; या अइ में, जैसे दैत्य-दइच्च, वैर-वइर, दैव-दइव; और कभी-कभी इ या ई में, जैसे सैन्धव-सिंधव, धैर्य-धीर।

औ ओ में बदल जाता है, जैसे दौत्य-दोच्च, कौमुदी-कोमुई, कौशिकी-कोसिई, कौलीन कोलीण, औषध-ओसह; वा अउ में, जैसे कौरव-कउरअ, गौरव-गउरव; वा कभी-कभी उ में, जैसे सौन्दर्य-सुंदर।

कुछ शब्दों में इ और उ ए और ओ में बदल जाते हैं, जैसे निद्रा-णेद्दा वा णिद्दा, पुस्तक-पोत्थअ, लुब्धक लोद्धअ।

दो व्यञ्जनों से पहले दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है, जैसे ईश्वर-इस्सर, विश्रब्ध-विस्सद्ध; यदि दीर्घ स्वर पूर्ववत् रहे तो दो व्यञ्जनों में से एक का लोप हो जाता है, जैसे ईश्वर-ईसर। ह्रस्व स्वर यदि दो व्यञ्जनों से पहले हो तो कभी-कभी दीर्घ स्वर में बदल जाता है और दो में से एक व्यञ्जन का लोप हो जाता है, जैसे जिह्वा-जीहा, विश्रब्ध-वसीद्ध।

व्यञ्जन

प्राकृत लिपि में श्, ष् और विसर्ग नहीं होते, श् और ष स् में बदल जाते हैं, जैसे शाखा-साहा, कृशानु-किसाणु, वेश (ष)-वेस, संशय-संसअ, विशेष-विसेस। (मागधी में श्, ष् और स् श् में बदल जाते हैं, जैसे शाखा-शाहा, कृशानु-किशाणु, वेष-वेश, समर-शमल)

न् ण् में बदल जाता है जैसे अनुराग-अणुराअ, नूनं-णूणं, नाम-णाम, तेन-तेण, नवनीत-णवणीद, पुनः-उण।

आरम्भ का य ज् में बदल जाता है जैसे यः-जो, यदि-जइ, युक्त-जुत्त।

म् और कभी-कभी न् (जो अनुस्वार में बदल जाते हैं) को छोड़कर अकेले अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है, जैसे यशस्-जसो, सरस्-सरो,

यावत्-जाव, तावत्-ताव। संज्ञा का अन्तिम अकेला व्यञ्जन प्रायः अ वा आ में बदल जाता है और अन्तिम नहीं रहता, जैसे **सरित्-सरिआ, वाच्-वाआ,** (किन्तु दिश्-दिसा, शरद्-सरदो, विद्युत-विज्जू)।

मध्य के एकाकी व्यञ्जन

क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प् और य् का लोप हो जाता है, जैसे लोक-लोअ, अशोक-असोअ, सागर-साअर, समागम-समाअम, उचित-उइद, वचन-वअण, भोजन-भोअण, वात-वाअ, पाद-पाअ, नूपुर-णूअर वा णेउर, जय-जअ, किन्तु प् और ब् कभी-कभी व् में बदल जाते हैं, जैसे उपायन-उवायण, वेपते-वेवदि, पिबति-पिवदि (वा पिअदि)।

ट् ठ् में बदल जाता है, ड् ढ् में और न् ण् में, जैसे कुटुम्ब-कुडुम्ब, वट-वड, कुटिल-कुडिल, पठति-पढदि, जठर-जढर, नाम-णाम।

ख्, घ्, थ्, ध्, फ् और भ् ह् में बदल जाते हैं, जैसे, अथवा-अहवा, साधु-साहु, आराधनेन-आराहणेण, अधिकार-अहिआर, शेफालिका-सेहालिआ, अभिलाष-अहिलास, विभव-विहव, भवतु-होदु।

छ्, झ्, और ढ् का रूप नहीं बदलता, जैसे **गच्छति-गच्छदि,** उज्झित्वा-उज्झिअ, दृढ-दिढ।

र् प्रायः ल में बदल जाता है, जैसे **चरण-चलण, करुण-कलुण।** यह परिवर्तन **मागधी** तथा कुछ प्रान्तीय भाषाओं में प्रायः हो जाता है।

ण्, म्, ल्, स्, और ह् भी नहीं बदलते।

संयुक्त व्यञ्जन

प्राकृत में भिन्न वर्ग के दो व्यञ्जनों का मेल नहीं होता, बल्कि सदा उनको एक ही वर्ग का कर दिया जाता है। ऐसा करने के लिए दोनों में से एक का लोप हो जाता है। **क्, ग्, ड्, त्, द्, प्** और **ब्** के बाद यदि **स्पर्श** व्यञ्जन हो तो उन अक्षरों का लोप हो जाता है और अगले स्पर्श का द्वित्व हो जाता है, जैसे **भुक्त-भुत्त, मुग्ध-मुद्ध, उत्कण्ठा-उक्कण्ठा, उद्गम-उग्गम, शप्त-सत्त, विप्रलब्ध-विप्पलद्ध, शब्द-सद्द, कुब्ज-कुज्ज।**

न्, म् और **य्** यदि संयुक्त अक्षर के अन्त में हों तो इनका लोप हो जाता है और शेष व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है, जैसे **निर्विघ्न-णिव्विग्घ,**

कृतघ्न-किदग्घ, आत्मानम्-अत्ताणं, युग्म-जुग्ग, योग्य-जोग्ग, युज्यते-जुज्जदि। जब कभी संयुक्त अक्षर में स हो तो इसके स्थान पर साथ के व्यञ्जन का घोष हो जाता है, जैसे क्ष ष्क्, और स्क् के बदले क्ख् (वा ख् यदि संयुक्त अक्षर आरम्भ में हो) जैसे साक्षिणी-सक्खिणी, अक्षि-अक्खि, दक्षिण-दक्खिण, पुष्कर-पोक्खर, स्कन्द-खंद, स्कन्ध-खंध; वा श्न, ष्ण क्ष्ण, स्न और ह्न के स्थान पर ह्न हो जाता है यदि दूसरे अक्षर का घोष न हो, जैसे प्रश्न-पण्ह, कृष्ण-कण्ह, तीक्ष्ण-तिण्ह, स्नान-ण्हाण, वह्नि-वण्ही।

र् और स संयुक्त हो तो अनुस्वार संयुक्त के पहले लगा दिया जाता है और र का लोप हो जाता है, जैसे अश्रु-अंसु, दर्शन-दंसन।

कुछ शब्दों में एक नया स्वर दो संयुक्त अक्षरों के बीच जोड़ दिया जाता है. जैसे हर्ष-हरिस।

त्स् और प्स् के बदले च्छ् हो जाता है, जैसे वत्स-वच्छ (वा वच्छर); जुगुप्सा-जुगुच्छ, अप्सरस्-अच्छर (किन्तु उत्सुक-उस्सुअ, उत्सव-उस्सव वा ऊसव)।

त्य्, थ्य्, द्य् और ह्य् वा ध्य् के बदले च्च्, च्छ्, ज्ज्, और ज्झ्, क्रम से हो जाते हैं, जैसे सत्य-सच्च, नेपथ्य-णेवच्छ, अद्य-अज्ज, गुह्यक-गुज्झअ दह्यते-दज्झइ, निध्यायन्ती-णिज्झाअन्ती, मध्य-मज्झ।

म्न् और ज्ञ के बदले ण्ण् हो जाते है, जैसे प्रद्युम्न-पज्जुण्ण, विज्ञान-विण्णाण, यज्ञ-जण्ण, विज्ञापयामि-विण्णवेमि।

र्त् और र्द् कभी-कभी ट्ट् और ड्ड् में क्रमशः बदल जाते हैं, जैसे, नर्तक-नट्टअ (किन्तु धूर्त-धुत्त), गर्दभ-गड्डह।

प्रति पडि, और प्रथम पढम वा पुढम में बदल जाते हैं।

यत्, अपि, खलु, इव, कुत्र, इति, ननु, एव, तथा, इदानीं, भवान्, कथं, तव और तत् क्रमशः जं, वि, खु, विअ, कहिं, त्ति, णं, एव्व, तह दाणिं, भवं, कहं, तुह और ता में बदल जाते हैं।

परिशिष्ट ग

नाटकीय परिभाषा

नान्दी—यह मंगलाचरण का पद्य होता है जो नाटक के आरम्भ में कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण ऐसा है:—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपाऽऽदीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

अर्थात् 'आशीर्वाद के वचनों सहित जो देव-स्तुति, वा ब्राह्मण-स्तुति वा राज-स्तुति तथा किसी अन्य महानुभाव की स्तुति हो, वह नान्दी कहलाती है'। काव्यदीपिका में इसका लक्षण इस प्रकार है:—

देवद्विजनृपादीनामाशीर्वादपरायणा।
नन्दन्ति देवता यस्मात् तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

मातृगुप्ताचार्य ने इसका लक्षण ज़रा भिन्न प्रकार से किया है:—

आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः।

अर्थात् 'कथा की प्रधान घटनाओं का सूचक तथा नमस्कारात्मक पद्य रूप आशीर्वाद नान्दी कहलाता है।'

सूत्रधार—"सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः।" रंगमंच के समस्त प्रबन्ध का कर्ता-धर्ता। इसका लक्षण ऐसा किया गया है:—

नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत्सूत्रं स्यात् सबीजकम्।
रंगदेवतापूजाकृत् सूत्रधार इति स्मृतः॥

अर्थात् 'बीज सहित नाटक के अभिनय को सूत्र कहा जाता है और जो व्यक्ति रंग-मंच के देवता की पूजा करता है, वह सूत्रधार कहलाता है।'

नेपथ्य—परदे के पीछे जहां नट लोग अपने वेश-भूषा बनाते हैं और रंगमंच पर आने तक ठहरते हैं।

प्रस्तावना वा आमुख—साहित्यदर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार है:—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि वा॥ (६.३१-३२)

अर्थात् 'जब नटी वा विदूषक वा पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ वार्तालाप करते समय सुन्दर वाक्यों द्वारा अपने काम-काज के प्रसंगवश नाटकीय विषय की ओर संकेत कर देता है, वह आमुख वा प्रस्तावना कहलाती है।'

दशरूपक ने इसका लक्षण ऐसे किया है:—

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदाऽऽमुखम्॥
प्रस्तावना वा

अर्थात् 'आमुख वा प्रस्तावना वह है जिसमें सूत्रधार नटी, वा मार्ष (वा मारिष) वा विदूषक को अपने किसी काम के प्रसंगवश सुन्दर संवाद द्वारा नाटकीय विषय की ओर संकेत करता है।'

विष्कम्भक का साहित्य-दर्पण में लक्षण इस प्रकार है:—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः।
शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥ (६. ५५-५६)

अर्थात् 'विष्कम्भक अंक के प्रारम्भ में होता है, इसमें भूत और भविष्य की घटनाओं का संक्षेप में निर्देश रहता है। जब यह एक वा दो मध्यम पात्रों द्वारा होता है तब इसे शुद्ध विष्कम्भक कहते हैं और जब किसी नीच और मध्यम पात्र द्वारा होता है, तब इसे मिश्र-विष्कम्भक कहते हैं।

प्रवेशक—साहित्य-दर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है:—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥ (६. ५७)

अर्थात् 'दो साथ के अंकों में एक वा दो पात्रों द्वारा अपरिमार्जित संवाद द्वारा घटनाओं का निर्देश प्रवेशक कहलाता है, शेष यह विष्कम्भक की तरह है।'

विदूषक—यह नाटक के नायक का परम मित्र है। साहित्य दर्पण ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है:—

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः॥ (३.४२)

अर्थात् 'विदूषक वह व्यक्ति है जिसका नाम 'कुसुम, वसन्त' आदि होता है, जो अपनी हरकतों अथवा भाषा आदि से हंसी उत्पन्न करता है, तथा झगड़े का चाहने वाला और अपने काम-काज को भली प्रकार समझने वाला होता है।'

कञ्चुकिन्--कञ्चुक (लम्बा चोगा) पहनने से इसका नाम ऐसा पड़ा है। इसका लक्षण ऐसे है: —

अन्तःपुरचरो वृद्धो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

अर्थात् 'अन्तःपुर का सेवक, जो वृद्ध ब्राह्मण हो, गुण-धाम हो, और सब काम-काज में चतुर हो, वह कञ्चुकी कहलाता है।'

स्वगत वा आत्मगत—वक्ता जब अपने आपको बोलता है, तब यह रंग-मंच का संकेत प्रयोग किया जाता है, यह प्रकाशम् का विपरीतार्थ है। **साहित्यदर्पण** में लक्षण ऐसे है:—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्। (६. १३७)

अर्थात् कोई बात जो किसी को सुनानी नहीं है, वा अपने आपको कही गई है, वह स्वगत कहलाती है।'

प्रकाश —जब वक्ता प्रकटरूप में सब के सामने बोलता है, तब यह रंग-मंच का संकेत प्रयोग किया जाता है। **साहित्य-दर्पण** में लक्षण ऐसे किया गया है: —

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्... (६. १३८)

अर्थात् 'वह बात जो सब कोई सुन सके, उसे प्रकाश कहते हैं।'

अपवारित--यह वह बोलने का ढंग ह जब वक्ता ऐसे बोले कि केवल वही पुरुष सुन सके जिसे वक्ता अपनी बात सुनाना चाहता है। इसका अर्थ 'एक ओर' है। **साहित्य-दर्पण** में इसका लक्षण ऐसे किया गया है :—

तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते। (६. १३८)

अर्थात् 'किसी दूसरे का रहस्य जब कोई एक तरफ़ होकर बोले, तब वह बोलने का ढंग अपवारित कहलाता है।'

जनान्तिक—यह रंगमंच का संकेत है और **साहित्य-दर्पण** ने ऐसे लक्षण किया है :—

त्रिपताक-करेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योऽन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥ (६.१३६)

अर्थात् 'किसी मण्डली में जब दो व्यक्ति बात-चीत के बीच हाथ से तीन अंगुलिएँ उठाए हुए मानो दूसरों को सुनने से रोकते हुए बातचीत करने लगते हैं, तब वह बोलने का ढंग जनान्तिक कहलाता है।'

भरतवाक्य—'भरतवाक्यं नटवाक्यम् । नाटकाभिनयसमाप्तौ सामाजिकेभ्यो नटेन आशीर्दीयत इत्यर्थः।' (राघव)

अर्थात् 'नाटक की समाप्ति पर श्रोता-गणों को नट की ओर से यह आशीर्वाद होता है।'

परिशिष्ट घ

छन्द

संस्कृत में पद्य मात्रा द्वारा संचालित होता है, न कि अंगरेज़ी की भाँति, किसी पदांश पर दबाव देकर बोलने के ढंग (accent) द्वारा। पद्य में चार पाद होते हैं। हर पाद का नियन्त्रण अक्षरों की संख्या अथवा मात्राओं द्वारा होता है। अक्षरों के आधार पर बना छन्द वृत्त कहलाता है, और मात्राओं के आधार पर बना जाति।

वृत्तों के तीन भेद हैं—**समवृत्त**, जब कि चारों पाद बराबर हों, **अर्धसमवृत्त**, जब कि पहला और तीसरा तथा दूसरा और चौथा पाद बराबर हों, और **विषमवृत्त** जब कि चारों पाद भिन्न-भिन्न हों।

अक्षर किसी शब्द का उतना भाग है जो एक ही बार बोला जाय, अर्थात् एक स्वर एक वा अधिक व्यञ्जनों सहित। ह्रस्व व दीर्घ स्वर के अनुसार अक्षर लघु व गुरु समझा जाता है। किन्तु ह्रस्व स्वर दीर्घ समझा जाता है जब इसके बाद में अनुस्वार, विसर्ग व संयुक्त व्यञ्जन हो और विकल्प से जब पाद के अन्त में हो। यह भाव इस प्रकार कहा गया है:—

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् ।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा ॥

मात्राओं के आधार पर संचालित छन्दों में ह्रस्व-स्वर के लिए एक मात्रा रखी गई है और गुरु स्वर के लिए दो मात्राएँ। छन्द की मात्राओं की गणना करने के लिए संस्कृत के छन्दशास्त्र वेत्ताओं ने तीन-तीन मात्राओं के आठ गणों की आयोजना बनाई है। उनके नाम और लक्षण निम्न पद्य में दिए गए हैं:—

> आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम्।
> भजसा गौरवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥

य (गण) ˘——, र (गण) —˘—, त (गण) ——˘, भ (गण) —˘˘ ज, (गण) ˘—˘, स (गण) ˘˘—, म (गण) ———, (नगण) ˘ ˘ ˘, ह्रस्व स्वर ˘, दीर्घस्वर—

यति—पद्य का उच्चारण करते समय विश्राम लिया जाता है, उसे यति कहते हैं।

मालविकाग्निमित्र नाटक में २१ छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक पद्य का छन्द टिप्पण में दिखा दिया है। उनके लक्षण यहाँ अकारादिक्रमानुसार दिए जाते हैं:—

अनुष्टुप् (या श्लोक)—इसके कई भेद हैं, किन्तु नीचे हम सर्व-प्रसिद्ध लक्षण ही देते हैं:—

> श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
> द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अर्थात् प्रत्येक पाद का पाँचवाँ अक्षर ह्रस्व हो, छठा दीर्घ, तथा सातवाँ एक पाद में दीर्घ, और दूसरे पाद में ह्रस्व। उदाहरण—१. १०, १४, १५, १९; २. ७, ९; ४.४, ६, १२, १४; ५. ९, ११, १२, १३, १५, १६, १८.

अपरवक्त्र—अयुजि ननरला गुरुः समे, तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ।

अर्थात् पहले और तीसरे पाद में दो नगण, एक रगण, लघु और गुरु (११ अक्षर); और दूसरे तथा चौथे पाद में एक नगण, दो जगण और एक रगण (१२ अक्षर) होते हैं। यह अर्ध-समवृत्त का उदाहरण है। उदाहरण—३. १०,

आर्या—यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥

यह जातिछन्द है अर्थात् मात्राओं की संख्या द्वारा संचलित छन्द। चारों पादों में क्रमशः १२, १८, १२ और १५ मात्राएँ होती हैं। उदाहरण—१. ३, ५ ६, ७, ८, ९, १३, १८, २०, २२; २. १, २, १०, ११, १३, १४; ३. ७, ८. ९, १३, १६, १८, १९, २२, २३; ४. २, ३, ५, ७, १०. १७; ५. ४, ५, ६. १९.

इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में २ तगण, १ जगण और २ गुरु होते हैं। (११ अक्षर)' उदाहरण—५. १७.

उपजाति—
स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम॥

जब इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा एक ही पद्य में मिल जाते हैं, तब उपजाति छन्द होता है। जब दूसरे छन्द भी एक पद्य में मिलते हैं, तब भी उपजाति छन्द कहलाता है।

उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में १ जगण, १ तगण, १ जगण और २ गुरु होते हैं (११ अक्षर)।' उदाहरण—१. २. १६, १७; ३. १०; ४, ८; ५. १४.

औपच्छन्दसिक—देखो, मालभारिणी नीचे।

द्रुतविलम्बित—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में १ नगण २ भगण, और १ रगण (१२ अक्षर) होते हैं।' उदाहरण—३. ६; ४. १३; ५. ७.

पुष्पिताग्रा—अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

अर्थात् 'पहले-तीसरे पाद में २ नगण, १ रगण और यगण (१२ अक्षर) तथा दूसरे-चौथे पाद में १ नगण, २ जगण, १ रगण और १ गुरु (१३ अक्षर) होते हैं।' उदाहरण—१. ११.

पृथ्वी — जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः ।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में एक-एक जगण, सगण, जगण, सगण यगण, लघु और गुरु होता है (१७ अक्षर); यति आठवें अक्षर के बाद होती है ।' उदाहरण--२. १७.

प्रहर्षिणी त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ।

अर्थात् 'प्रत्येक पद में एक-एक मगण, नगण जगण, रगण और गुरु होता है (१३ अक्षर), यति तीसरे अक्षर के बाद होती है । उदाहरण--१. २१.

मन्दाक्रान्ता--मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद्गुरू चेत् ।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में १ मगण, १ भगण, १ नगण, २ तगण और २ गुरु होते हैं (१७ अक्षर); यति चौथे और दसवें अक्षरों के बाद होती है ।' उदाहरण--२. ६, ८; ३. ४; ४. १..

मालभारिणी--विषमे ससजा गुरूसमे चेत् सभरा येन तु मालभारिणीयम् ।

अर्थात् 'पहले-तीसरे पाद में २ सगण, १ जगण, २ गुरु (११ अक्षर) होते हैं, दूसरे-चौथे पाद में १ सगण, १ भगण, १ रगण, और १ यगण होता है । (१२ अक्षर) यह अर्ध-समवृत्त छन्द है और इसे औपच्छन्दसिक भी कहते हैं' । उदाहरण--३. ३, ११.

मालिनी —ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में २ नगण, १ मगण, २ यगण (१५ अक्षर) होते हैं । यति आठवें अक्षर के बाद होती है । उदाहरण--२. ५; ३. १२.

रुचिरा — जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः ।

अर्थात् प्रत्येक पाद में एक-एक जगण भगण, सगण, जगण, और गुरु होता है (१३ अक्षर), यति चौथे अक्षर के बाद होती है ।' उदाहरण--४. १६.

वंशस्थ —जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में एक-एक जगण, तगण, जगण और रगण (१२ अक्षर) होते हैं । उदाहरण--३. १५.

वसन्ततिलका उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में १ तगण, १ भगण, २ जगण, और २ गुरु (१४ अक्षर) होते हैं।' इसे वसन्ततिलक भी कहा जाता है। उदाहरण—१. १२; ४. ९; ५. ३, १०, २०.

वियोगिनी—विषमे ससजा गुरुः समे सभरालोऽथ गुरुर्वियोगिनी।

अर्थात् 'पहले-तीसरे पाद में २ सगण १ जगण, और १ गुरु (१० अक्षर) होते हैं, दूसरे-चौथे पाद में एक-एक सगण, भगण, रगण, लघु और गुरु (११ अक्षर) होते हैं। यह अर्ध-समवृत्त छन्द है।' उदाहरण—३. २.

शार्दूलविक्रीडित—सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में १ मगण, १ सगण, १ जगण, १ सगण, २ तगण, और १ गुरु (१९ अक्षर) होते हैं, यति बारहवें अक्षर के बाद होती है।' उदाहरण—१. ४; २. ३; ३. ५; ४. १५.

शालिनी—मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में १ मगण, २ तगण, और २ गुरु होते हैं। (११ अक्षर) उदाहरण—३. १४, २१, ५. ८.

शिखरिणी—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में एक-एक यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु (१७ अक्षर) होते हैं। यति छठे अक्षर के बाद होती है।' उदाहरण—३. १.

स्रग्धरा—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में १ मगण, १ रगण, १ भगण, १ नगण, और ३ यगण (२१ अक्षर) होते हैं। यति सातवें और चौदहवें अक्षरों के बाद होती है।' उदाहरण—१. १; २. १२.

हरिणी—नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता।

अर्थात् 'प्रत्येक पाद में एक-एक नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, लघु और गुरु (१७ अक्षर) होते हैं। यति छठे और दसवें अक्षरों के बाद होती है। उदाहरण—४. ११, ५. १, ५.

Appendix E

University Question Papers.

Translate into English and write grammatical notes on the words reproduced :—

I. 1 अष्टाभिर्यस्य०...नाभिमानः (P. U. 1942; D. U. 1932); 2 (P. U. 1943); 4 चाक्षुषं, नाट्यं...समाराधनम् (P. U. 1920, 1944; D. U. 1931); 5 भाविकम् (P. U. 1921); 6 (P. U. 1918, 1943); अमात्यः—इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम्—'पूज्येना०...श्रूयतामभिसन्धिः।, मोषयित्वा, त्वदीयेन, सोदर्यो (P. U. 1918, Supp. 1919); कथं कार्यविनिमयेन...०माज्ञापय। (P. U. 1935); 8 संरोहणा (P. U. 1920; Supp. 1943); 12 (P. U. 1935; D. U. 1932); 14 त्रयी...०विद्यया (D. U. 1932); 15 (P. U. 1942); 16 यस्योभयं, प्रतिष्ठापयितव्यः (P. U. 1919 Supp., 1935); 17 तितिक्षमाणस्य (P. U. 1918 Supp.); यस्यागमः...वदन्ति (D. U. 1931); 18 प्रभवन्त्योः ...कुटुम्बिन्याः (D. U. 1931); 20 (P. U. 1943); 21 निर्ह्रादिन्युप०...मनांसि (D. U. 1933); 22 (P. U. 1943)

II. 2 (P. U. 1943); 4 (P. U. 1942; D. U. 1932); 5 प्रयायगतिम०...व्याजमुक्तः (P. U. 1921, 1936; D. U. 1933); 6 नृत्तादस्या...०ताधेम् (D. U. 1933); 7 पक्ष्मच्छिदः (P. U. 1918; D. U. 1931); 8 (P. U. 1919, 1935, 1944; D. U. 1931); 9 (D. U. 1931); 10 (P. U. 1918 Supp.; 1943); 10 (P. U. 1937); 11 (P. U. 1920); 12 (P. U. 1920 Supp.)

III. 1 (P. U. 1920 Supp.; D. U. 1931); 4 मनसिजरुजः (P. U. 1918, 1920, 1943); 5 बिम्बाधर, आक्रान्ता

सावङ्गेव (P. U. 1921); 6 (P. U. 1942); 8 (P.U. 1935); 1 वोढा (P. U. 1919 Supp.); 10 (P. U. 1942); 11 प्रथमासिव...०द्रुमस्य, (P. U. 1937; D U. 1933); 12 अकुसुमिताशोकं (P. U. 1919; D. U. 1932); तकेपि दोला०...अणुजयिस्सदि । (P. U. 1937); अविएणादहिअअं भट्टारं णाइस्सदिति । (P. U. 1943; D. U. 1931); अविस्सणीआ पुरिसा ।...न विएणादं । (P. U. 1944); हिअअ ! अलं सुहिददाए ।...कुसुमुग्गमे देवी । (D. U. 1933); 15 (P. U. 1943); 17 (P. U. 1936); 21 (P. U. 1942); 22 (P. U. 1937)

IV. तदो स देवी पुच्छिदा...जाणीअदि । (P. U. 1943); 2 गमिते P. U. 1921); 4 (P. U. 1919 Supp. 1935); 6 (P. U. 1942): 7 सूर्यास्तमये, चणाद्दूढे (P. U. 1919, 1942); 8 कात्स्न्येंन (P. U. 1918 Supp.), तत्पूर्व-समागमानाम्, समग्रपातीनि (D. U. 1933); 9 (P. U. 1943); 11 (P. U. 1920 Supp., 193?, 1942); मनसिजरुजा (D. U. 1933); 13 (D. U. 1933); 13 (D. U. 1932); 16 अपर्वणि... भविष्यति (P. U. 1918, 1942; D. U. 1933)

V. उद्यानपालिका—उपक्षिप्तो मया...तावदेनम् । अनुष्ठितनियोगम् । (P. U. 1920 Supp.); 1 उपोढबलस्य (P. U. 1918 Supp.); 2 मध्येकृत्य (P. U. 1919 Supp.); 3 (P. U. 1935, 1942; D. U. 1931); 6 विनयादनूत्थिता (P. U. 1920); 7 (P. U. 1937, 1943); विजयतां देवः । देव !...दातुमर्हति (P. U. 1937) 12 स्नानीय (P. U. 1919); 13 नक्तंदिवं.../०किरणाविव (D. U. 1933); स्वस्ति । यज्ञशरणात् सेनापतिः पुष्यमित्रो...यज्ञ-सन्दर्शनायागन्तव्य-मिति ।, वैदिशस्थं पुत्रमायुष्यमन्तम् (P. U. 1918, 1921, 1944); 14 (D. U. 1932); 15 (D. U. 1933); 17 (P. U. 1943) 19 (D. U. 1942)

Explain fully:— 1. 2 (P. U. 1935); 1. 6 (P. U. 1936); 1. 8 (P. U. 1937); 1. 22 (P. U. 1944); 2. 13 (P. U. 1935, 1937); 4. 5 (P. U. 1944); 4. 7 (P. U. 1944); 5. 9. (P. U. 1936).

Write explanatory notes on :—

(a) पीठमर्दिका, बैम्बिकाः, ब्रह्मबन्धुः, विष्कम्भकः, समुद्रगृहम्, चेटी, सोदर्या and भर्तृदारिका (P. U. 1918)

(b) मौद्गल्यः, पारिपार्श्विकः, वर्णावरः, सप्तसप्तिः, जातरूपम्, स्वस्तिवाचनकम्, ऊरुजन्मा and क्रथकैशिकाः (P. U. 1918 Supp.)

(c) पुरोभाग, मत्स्यण्डिका, संरम्भ, अभिसन्धि, भाविक, मायूरी मार्जना, श्यामा and समाधि। (P. U. 1919)

(d) पीठमर्दिका, प्राश्निक, विकल्प, तितिक्षमाया, विशेषक, अनुवक्रम् and जातरूप। (P. U. 1919 Supp.)

(e) प्राश्निक, प्रस्ताव, अनुशय, उदकुम्भविधि, स्वस्तिवाचनमोदक, ब्रह्मबन्धु, पञ्चरात्र and बहुशः। (P. U. 1921)

(f) विष्कम्भः, संगीतम्, पीठमर्दिका, नेपथ्य, भास, चलितम्, परभृता and प्रवेशक (D. U. 1931)

(g) प्रस्तावना, सूत्रधारः, नेतर, वस्तु, विदूषकः and जनान्तिकम्। (D. U. 1932).

(h) सन्धि, बीज, अङ्क, प्रवेशक, रस and नान्दी। (D. U. 1933).

(i) पीठमर्दिका, ब्रह्मबन्धु, दोहद, विष्कम्भकः, चेटी, दायादः and समुद्रगृहम् (D. U. 1942)

Misc. चतुष्पद, प्रसाधन, नेपथ्य, आत्मगतम्, प्रकाशम्, भरतवाक्य; अपवार्य।

Give the senses in which the following words are used in your text :—

I. क्रिया, उपचार, प्रतिपत्ति, सेवा, मूल, प्रसाद, प्रत्यय and वस्तु। (P. U. 1920)

II. श्यामा, महाब्राह्मण, बीजपूरक, अतिभूमि, समुद्रगृह, चतुःशाल, मध्येकृत्य and भर्तृपिण्ड। (P. U. 1920 Supp.)

Mis. धृति, नेपथ्य.

Explain with reference to the context :—

P. U. 1918:—

मए गाम मुद्धचादएण विअ सुक्खघणगज्जिदे अन्तरिक्खे जलपायं इच्छिदं । (1919 Supp.; D. U. 1932); प्रथमः कल्पः । अवहितो देवः श्रोतुमर्हति । गृहीतक्षणोऽस्मि ।...तत्रभवती । (P. U. 1920); ही ही इयं शीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता । (D. U. 1932); पूरय पूरय । नन्वशोकः कुसुमं दर्शयति । अयं पुनर्न केवलं पुष्प्यति फलति च ।; अस्ति खल्वेष लोकप्रवादः "आगामि सुखं दुःखं वा कथयतीति ।"

P. U. 1918 Supp.:—

पेक्खामो उरब्भसंवादं । किं मुहा वेअणादाणेण ।

(P. U. 1935) न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः । (P. U. 1919 Supp., D. U. 1932); मया खलु आत्मनो वञ्चनावचनं प्रमाणीकृत्य व्याधगतिरक्तया हरिण्येवाशङ्कितयैतन्न विज्ञातम् । (D. U. 1932); अहो अणत्थो संपडिदो । बन्धणब्भट्ठो गिहकवोदो चिल्लाए मुहे पडिदो । (P. U. 1919; D. U. 1931); ननुभृतामीदृशी लोकयात्रा ।...भर्तृपिण्डः । शान्तं पापम् । शान्तं पापम् । कारणेन खलु मया नैभृत्यमवलम्बितम् । (P. U. 1920 Supp.)

P. U. 1919:—

विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति ।; कर्मगृहीतेन कुम्भीलकेन...भवति । ...कर्म...न करोति ।; अहो कुम्भीलकैः कार्मुकैश्च...चन्द्रिका । (D. U. 1933); चन्दनं खलु मया...दूषितम् ।;

P. U. 1919 Supp.:—

पत्तने विद्यमानेऽपि ग्रामे रत्नपरीक्षा। (D. U. 1933); मया नाम मुग्धचातकेनत्र...जलपानमिष्टम् ।; चताङ्कुर...०दृष्टम् । (P.U. 1942); किं न खलु दर्दुरा... विस्मरति । (P. U. 1943 D. U. 1931); धाराभिरातप इवाभिहतं सरोजं दुःखायते च हृदयं सुखमश्नुते च।

P. U. 1920:—

आकृति विशेषेष्वादरः पदं करोति। (P. U. 1912; D. U. 1933); एतावान्मे मति-विभवो...सेवितुम् ।; गृहीतः क्षणः ।; चरणानुरूप खलु तत्र भवत्या अधिकार उपक्षिप्तः ।; सत्यमग्रमत्र ब्रह्म-बन्धुना कृतः प्रयोगः ।; अवश्यमस्याः सेवितमार्यपुत्रो ज्ञास्यति ।; यद्यप्येवं तथापि राजपरिग्रहः प्रभुत्वमुपहरति ।, वत्से! मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव ।; त्वरय तावदेनां गुरुदक्षिणायै ।; अलमलपुचारयन्त्रणया ।; कर्मसिद्धावाशु प्रतिपत्तिमानय।

P. U. 1920 Supp.:—

सखे ! त्वत्स्तुनीतिपादपस्य पुष्पमुद्भिन्नम् ।; महाब्राह्मण ! न खलु प्रथमं नेपथ्यसंगीतकमिदम् ।; प्रसक्ते निर्वाणहृदय ! परितापं वहसि किम् ?; अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्यः ।; प्रिये ! अपूर्वोऽयमुपचारः ।; भो विस्रब्धो भूत्वा त्वं यौवनवतीमिमा पश्य।

D. U. 1931 :—

प्रायः समानविद्याः परस्परयशःपुरोभागाः । (P. U. 1943; D. U. 1932); उद्दवेलादिक्रमे चिरञ्छ आ दोसं उदाहरन्ति ।; हृदय ! निरवलम्बादतिभूमिलङ्घिनो मनोरथाद्विरम् ।; स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ।; परिभवोपहारिणो विनिपाताः ।; यस्याप्रभृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा । (P. U. 1943); आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां...अग्निमित्रे।

D. U. 1932 :—सन्तः परीक्ष्यन्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्यय-नेयबुद्धिः ।; नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।; कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ।; 5. 18.

D. U. 1933:—

देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ।; नाथ ! मां पराधीनां त्वयि गणय सतृष्णाम् ।; दिढं विपणिकन्दु विअ मे उदरब्भन्तरं दज्झइ ।; सखि ! अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणः ।...भव ।; संदिग्धमेव सिद्धौ कातरमाशङ्कते चेत ।; परिणामाभिमुखसूतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः ।; भवति ! एष लोकव्यवहारः । सर्वोऽपि नववरो लज्जातुरो भवति ।

P. U. 1935:—

यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ।; हला अत्तणो चलणगदो त्ति लज्जेमि णं प्रसंसिदुं ।...अहिविणीदा सि ।; दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ।; उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये ।

P. U. 1936 :—

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।; कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ।; वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात् त्वामुपस्थितः ।; सुदं भवदा । अत्तहोदी चित्ते जह दिट्ठो तहणं दिट्ठो भवंति ।; मुधा दाणिं मंजूसा विअ रअणभंडअं जोव्वणगव्वं वहेसि । (P. U. 1944); विस्ससणीओ सि । मए न...करीअदि ।

P. U. 1937:—

ननु तव साक्षादयमहमनन्यसाधारणो दासः ।; स्थाने प्राणाः कामिनां दत्त्यधीनाः ।; द्वारपिधानमिव धृतं मन्ये तस्यास्तिरस्करणम् ।; गोदम ! चिंतेहि दाव उवाअं जधा मे मालविआ...होदि ।; का वअं भट्टिणि णिओएदुं । परिअणाणि अलणेन दंसिदो अणुग्गहो ।

P. U. 1942:—

अन्य-सरितां शतानि हि...ऽन्निम् ।; कुम्भीलएहि...चन्द्रिका । अपर्वणि महकलुपेन्दुमण्डला...भविष्यति ।; पण्डितपरितोषप्रत्यया ननु मूढा जातिः ।;

P. U. 1943:—

सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शने न निपुणो भवति ।; असमग्रलक्ष्य-केसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं...; ...श्रीमानिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ।; स्नानीय-वस्त्र-क्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ।

P. U. 1944:—

आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति ।; यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।; अहवा पण्डिदसंतोसपच्चया णं मूढजादी ।

Write notes, grammatical or explanatory, on the following:—

Act I. एकैश्वर्य, पुराणम्, चलित, समान-विद्यः, अग्रहस्त, सामाजिकः, वर्णावरः, पञ्चाङ्गभिनय, यातव्य-पक्ष, सुतीर्थ, मध्यम स्वर, दण्ड-चक्र, लब्धवर्णाः, पुरोभागाः, विसंवाद, एकार्थ-संश्रयम्, उपेया-पाय-दर्शने, अध्यात्म-विद्यया, उपदेश-तारतम्यम् ।

Act II. तिरस्करिणी, अनवद्यता, उपदेश-विशुद्धा, स्रस्त-मुक्त, ऋज्वायतार्धम्, चतुष्पदा, उपगान, महा-ब्राह्मण, नेपथ्य-संगीतकम्, अव्याज-सुन्दरी, चतुर्थ-वस्तुनः, उपगान, सप्तसप्तिः, गृहीत-क्षणाः, शिथिल-समाधिम् ।

Act III. अनुभूत-मुक्ता, अरिक्त-पाणिना, संकल्प-योने, मन-सिज-रुज्, सान्द्र-स्पर्श, श्यामावदातारुणाम्, तत्त्वावबोधैक-रस, प्रणय-मृदुलानि, नवनीतहृदय, अविज्ञात-हृदयं, प्रसन्त-तर्कम ; मनोभव, अग्र-पादेन, तनु-मध्यमा, कौलीनम्, दोहद, प्रसाधन-कला, ब्रह्मबन्धुः, अङ्गारक, अतिभूमिलङ्घिणा ।

Act IV प्रवात-शयन, समाप्त-कृत्य, देव-चिन्तकैः, अनन्य-साधारणाः, कार्यसिद्धिपथः, मनसिजतरुः, साक्षीकरोति, योग-क्षेम, वर्षवर, उदकुम्भ-विधानै, सोपसर्ग नक्षत्रम्, पञ्चबाणाग्नि-साक्षिकम्, वचनीयात्, जीवितसंशय, विपणि-गत इव बलीवर्दः, आचारपुष्प० ।

Act V. तस्करः, सप्राभृतक, कृत-सत्कार-विधेः, मध्ये-कृत्य, संनिधि-वियोगः, कोदण्ड-पाणिः, अग्निसात्कृत्वा, अवस्थापयितुकामया, प्रत्यक्षीकरोति, विगत-रोष-चेतसा, वीर-पत्नीनाम्, सभाजनाक्षराणि, ईति-विगम-प्रभृतिः, ऊरु-जन्मा, देव-यात्रा-गतेन, राजयज्ञ ।

Derive and give the meanings of the following:—

Act I. आख्यात, चाक्षुष, उमा, व्यतिकर, द्विधा, मेधाविनी, भाविक, अतिक्रामन्ती, तद्विधानाम्, उपायन, गुणान्तर, न्यस्त, अभिहित, प्रवात, लब्धक्षण, अवस्कन्द्य, सोदर्या, मोचयितव्य, मोक्ता, यातव्यपक्ष, शास्त्रदृष्ट, अधिष्ठित, अवितथ, प्रत्यक्षदर्शना, उपक्रान्त, दुरधिगम्, सप्रतिबन्ध, विकत्थ्य, समक्ष, उद्भिन्न, दुरासद, अन्तिकचर, विनिवर्तित, दृष्टिपात, तीर्थ, उपस्थान, प्राश्निक प्रतिज्ञात, अवहित, प्रतिद्वन्द्विन्, अध्यासितव्य, परिच्छेत्तुम्, प्रत्यायितव्य, आत्मसंस्था, संक्रान्ति, प्रतिष्ठापयितव्य, तितिक्षमाणस्य, पराङ्मुखी, दर्शयिष्यन्त, अभिनेय, दुष्प्रयोज्य, उत्थापयिष्यति, सामाजिकाः, विसंवादयिष्यति ।

Act II. पुरस्कार, व्यवसित, प्रतिच्छन्द, पाणिमित, नर्तयितुः, उपनेतव्य, द्वारीकृत्य, अभिनयन्त्या, सूक्ष्मदर्शिता, विपश्चित्, विचक्षित, श्यामायते, अभ्यन्तर, उपात्तसार, पारितोषिक, द्वारपिधान, उपारूढ, सौधानि, पिपासुः, चिकित्सकाः, मज्जनविधि, अद्वितीया, गृहीतक्षण, सूनोपरिचर, एकान्तीयभूता ।

Act III. अवलोकयन्ती, शुश्रूषितुम्, कौलीन, म्लायमाना, आविता, समासादयितव्य, अभिनिवेश्य, मन्मथ, पर्यवस्थापयतु, आक्रान्ता, अनुपद, एकाकिनी, निषण्ण, सुखितया, प्रसूति, मनोभव, अकुसुमित, अवतंसयितव्य, विकासयितृक संपत्स्यसे, मुखर, अतिक्रमे, प्रतिपत्तिः, अभ्युद्यता, अनुवक्र, वैषम्य ।

Act IV. आस्थया, बद्धमूल, मनसिजतरु, परभृतिका, हताशा, विनोद्यमाना, चिकित्सित, आत्मनीनः, भाययिष्यामि, अनुपपन्नः ।

Act V. शौरेः, आगामि, आप्तवर्गः, प्रतिरोधकः, तस्करः, परीप्सुः, तनुभृत, नैभृत्यम्, उद्वहन्तौ, सप्राभृतक, गोप्चारम्, वीरसूः, अप्रधृष्य, ऊरुजन्मा, संभावयितव्य, सभाजयितुम् ।

General Questions.

1. (*a*) Was the hero of the drama you have read a historical personage? If so, how long before Kālidāsa did he flourish? To what dynasty did he belong? (*b*) Where was the scene of Mālavikāgnimitra laid? Where was the place situated, and what is the modern representative? [*P.U. 1918*]

2. (*a*) Quote evidence from the Mālavikāgnimitra to show that this drama was really a production of the celebrated Kālidāsa. (*b*) Narrate briefly the events that led to the introduction of Mālavikā into the place of Agnimitra and her ultimate union with him.

[*P. U. 1918 Supp.*]

3. (*a*) What historical incidents are recorded in the Mālavikāgnimitra? Give references to the passages in the text. (*b*) What is the origin of Drama according to Kālidāsa, and how is it esteemed by him? Give the name and the author of the Dramatic composition specified in your text by Kālidāsa. [*P. U. 1919*]

4. (*a*) What is the period of time required by the action of the Mālavikāgnimitra? Give the indications of time supplied by Kālidāsa himself in the speeches of the several characters. (*b*) Show clearly the important part played by Gautama in the development of the plot.

[*P. U. 1919 Supp.*]

5. (*a*) Describe the social, religious, and political condition of India as you have learnt it from the Mālavikāgnimitra. Is there any indication about the age of Kālidāsa in your text? Give references to the pertinent passages. (*b*) Describe the character of Dhāriṇī, alluding to the passages in your text in support of your answer.

[*P. U. 1920*]

6. (*a*) What do you know about the daily life of the King and the Queen from your play? What were their

tastes and their amusements? Give the pertinent passages in support of your answer. (*b*) Describe the part played by Pandit Kausikī in bringing about the happy union, and relate the story of her life. [*P. U. 1920 Supp.*]

7. (*a*) What are the fine arts, alluded to in the Mālavikāgnimitra, and in what connection? Give references to the passages. (*b*) Describe the spring festival in Vidisā. How does it serve the purpose of Agnimitra? [*P. U. 1921*]

8. Discuss the sources of the play Mālavikāgnimitra, and state how Kālidāsa has improved upon them to suit his purpose. [*P. U. 1935*]

9. How was Mālavikā rescued from the under-ground cell where she had been imprisoned by the Queen? [*P. U. 1936*]

10. Reproduce briefly in your words the story of Act III of Mālavikāgnimitra. [*P. U. 1937*]

11. Describe the part played by Kausikī in bringing about the happy union, and briefly relate the story of her life. [*P. U. 1942*]

12. Contrast the character of Irāvatī with that of Dharinī, referring to the incidents described in the play. [*P. U. 1943*]

13. Describe Malavika's rescue from the under-ground cell to which she was consigned by the Queen? [*D. U. 1931*]

14. What are the principal points in the development of the plot of the play? [*D. U. 1932*]

15. "King Agnimitra is an unheroic hero". Discuss this estimate of the hero of the play bringing out clearly how far you agree or disagree with it giving illustration for your answer. [*D. U. 1933*]

परिशिष्ट च

सुभाषितावलि

वाक्य

अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्यः । ३. १३-१४.
अन्योऽन्यकलहिनयोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः । १. १५-१६
अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्यान्याय्यं प्रकाशनम् । १. १७-१८.
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति । ४.१६.
अहो अविश्वसनीयाः पुरुषाः । ३. १९-२०.
अहो दुरासदो राजमहिमा । १. १०-११.
अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः । ५. ११-१२.
अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपस्य । २. २-३.
अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति । २. ५-६.
आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति । १. ३-४
आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयति । ५.९-१०.
इयं खलु शीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता । ३.५-६.
उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति । २. १२-१३.
उपस्थितं नयनमधु संनिहितमक्षिकं च । २. १-२.
कर्मगृहीतेन कुम्भीलकेन सन्धिच्छेदने शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति ।
३.१९-२०.

कातरो बालभावः । ४. १७ के बाद.
कामं खलु सर्वस्यापि कुल-विद्या बहुमता । १. ४ से पहले.
किं नु खलु दर्दुरा व्याहरन्तीति देवः पृथिवीं विस्मरति । ४. १६ से पहले.
कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः । ४. ८ से पहले.
कुम्भीलकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका । ४. ६-७.
चन्दनं खलु पादुकापरिभोगेन दूषितम् । ५. ९-१०.
चूताङ्कुरं विचिन्वत्योः पिपीलिकाभिर्दष्टम् । ३. १२-१३.
दंशच्छेदः पूर्वकर्म । ४. ४ से पहले
न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रपातीनि विलोचनानि । ४. ८.

पद्य

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात् ।
नवसंरोहणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ २.८

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः ।
अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः १. १३.

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति ।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥ ३. १५.

अन्याकरसमुत्पन्ना मणिजातिरसंस्कृता ।
जातरूपेण कल्याणि ! नहि संयोगमर्हति ॥ ५. १८.

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव ।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥ १. ६.

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः ।
श्यामायते न विद्वत्सु यः काञ्चनमिवाग्निषु ॥ २. ६.

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम् ।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ॥ ४. ४.

न हि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम् ।
कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥ ४. ६.

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ १. ६.

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ १. २.

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः ।
अन्यसरितां शतानि हि समुद्रगाः प्रापयन्त्यब्धिम् ॥ ५-१६.

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः ॥ २. ७.

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥ १. १७.

शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥ १. १६.

BOOKS BY THE SAME AUTHOR.

Manohara-Kavya-Mala.
A collection of beautiful Sanskrit Kavya pieces from the Epics and the Puranas with a glossary; a text-book for the Intermediate in the U.P.

Natya-Sudha.
Tales from Sanskrit dramas in Hindi; awarded a prize from the Punjab Text-Book Committee, Lahore; 9th edition issued.

Bhima-Pratijna
A drama in Hindi based on Venisamhara and the Mbh.

Kunala.
A historical play in Hindi, a text-book in the U P. for the Matriculation.

Malavikagnimitra.
First printed in 1934; highly appreciated.

Natya-Katha-Manjari.
Tales from Sanskrit dramas in Sanskrit being a Sanskrit rendering of Natya-Sudha; a text-book in the Nagpur University for B.A. and Prajna examinations.

Nava-Satasai-Sara.
A selection from nine Satasais of Tulasi, Rahima, Bihari, etc.; a text-book for B.A. in Delhi University.

Urubhanga.
A play of Bhasa; this edition has been prescribed as text in Delhi University for the Intermediate examination.

Kumara-Sambhava Canto V.
Used as text in various Universities and Boards.

Nidana-Sutra of Samaveda.
Author's thesis for Ph.D.; highly appreciated by scholars here and abroad.

Kalpanupada-Sutra.
Another Srauta Sutra of the Nidana-Sutra group.

Gadya-Chayanika
A prose selection for the Ratna examination; published by the Punjab University.

Srivatsa.
A play in Hindi based on a Pauranic story; a text-book for the Prabhakara examination of the Punjab University.

Mihirakula.
A historical play in Hindi.

A FEW OPINIONS

Dr. Banarsi Das, M.A., Ph. D., Oriental College, Lahore, writes : "Prof. K. N. Bhatnagar has just brought out an edition of the Mālavikāgnimitra. As stated in the preface it is chiefly intended for College students. Though several other editions are available in the market avowedly meant for the same class of readers, yet the present edition is in many respects, an improvement and better meets the needs of the College students.

A lot of pain must have been taken in passing the book through press as different types have been used for the text, commentary, foot notes, etc. The chief feature of this edition is that it gives Prakrit passages in their proper place in the text immediately followed by a Sanskrit rendering to help the reader, whereas in other editions the Prakrit is relegated to foot notes, its Sanskrit-chāyā being substituted in the proper text. This was a false representation of the original work.

Other aids to students provided by this edition are the prose-order of the verses, meanings of difficult words in foot-notes, and Hindi translation. The latter is literal so that readers may construe the text with its aid when necessary. Rules of Prakrit grammar and prosody have been given in appendices at the end.

In my opinion Prof Bhatnagar's edition is just what should meet the requirements of intermediate students."

Prof. M. K. Sircar M. A. (Calc. and Dacca). Senior Professor of Sanskrit D. A. V. College. Lahore, and Lecturer Punjab University, writes : "I have gone through Kālidāsa's Mālavikāgnimitram edited by Dr. Kailash Nath Bhatnagar M. A. Ph D. The plan adopted by the editor is very attractive and useful for students and teachers alike The feature of giving prose-order, Synonyms and Hindi Translation just under the text will be very useful for young readers. The Hindi Translation is very easy and idiomatic. It contains some explanatory words or phrases in round brackets designed to

clear the sense. He has put life in the translation. It reads better than any other translation of the same play. At the end of the book some very useful Appendices are added. I strongly recommend this edition to the students preparing for the Intermediate Examination."

Pt. Jaya Chandra Shastri, M.A., M. O. L., Kavyatirtha, Vidya Vachaspati, Gyani, Prof. Dyal Singh College, Lahore, writes—"Professor Kailash Nath Bhatnagar's edition of Kālidāsa's Mālavikāgnimitram is undoubtedly the best in the market. He has taken great pains to make his book useful to the student community. The Introduction contains an elaborate discussion on the date of Kālidāsa and other kindred topics. The Notes are very useful indeed. It is simply gratifying to note that the Punjab has, at last, awakened to take up the work of editing Sanskrit books in hand. I congratulate Professor Bhatnagar on his success."

L. Faqir Chand, M.A., B.T., Government College, Ludhiana, writes: "...It will be really a very helpful edition to the Intermediate students. Everything that is needed for an intelligent study of the subject has been appropriately supplied..."

L. Ram Chand Khanna M.A., Government Intermediate College Multan, writes: "...I am very glad to know that you are writing, these days, so many useful and valuable works. I have read excellent reviews regarding some of your publications. As for the मालविकाग्निमित्रम् you are editing, you should rest assured that I shall take up with my students no other edition but yours. I can say that your edition of this drama should indeed be the most useful for our students."

Pt. Durga Datt Sharma, M.A., M. O. L. Shastri, D. A. V. College Jullundur, writes: "It is undoubtedly the best edition."

Pt. Brij Lal Shastri, M. A, M. O. L., Government College, Montgomery, writes: "Anything from your pen is welcome to me because it must be good. From the point of view of examination—and that is really the point in view—the edition is as it should be. Explanation, Translation and Notes are as the students require, to the point, brisk and pithy. You can depend upon my recommending it to my students."

clear the sense. He has put life in the translation. It reads better than any other translation of the same play. At the end of the book some very useful Appendices are added. I strongly recommend this edition to the students preparing for the Intermediate Examination."

Pt. Jaya Chandra Shastri, M.A., M.O.L., Kavyatirtha, Vidya Vachaspati, Gyani, Prof. Dyal Singh College, Lahore, writes—"Professor Kailash Nath Bhatnagar's edition of Kālidāsa's Mālavikāgnimitram is undoubtedly the best in the market. He has taken great pains to make his book useful to the student community. The Introduction contains an elaborate discussion on the date of Kālidāsa and other kindred to

gr

tal

gr

Holder of this coupon is entitled to have the remaining portion of the book Malavikagnimitra edited by Dr Bhatnagar M.A., Ph. D. free of cost.

wr

In

int

su

Co

ar

I l

tic [illegible] you should rest assured that I shall take up with my students no other edition but yours. I can say that your edition of this drama should indeed be the most useful for our students."

Pt. Durga Datt Sharma, M.A., M.O.L. Shastri, D.A.V. College Jullundur, writes: "It is undoubtedly the best edition."

Pt. Brij Lal Shastri, M.A., M.O.L., Government College, Montgomery, writes: "Anything from your pen is welcome to me because it must be good. From the point of view of examination—and that is really the point in view—the edition is as it should be. Explanation, Translation and Notes are as the students require, to the point, brisk and pithy. You can depend upon my recommending it to my students."